PRISHODH G.K.V.

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

१६

परिशोध

क्रम

डा० इन्द्रनाथ मदान
पंजाब यूनिवर्सिटी,
चण्डीगढ़

आधुनिकता और आलोचना-२

हर विधा की कृतियों को पहचानने और परखने के लिए आलोचना नये मोड़ लेती रही है और ले रही है और इसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है। यह चाहे कविता हो या कहानी, उपन्यास हो या नाटक। इनके बारे में अनेक तरह के सवाल उठाए गए हैं। उपन्यास की पहचान और परख के बारे में भी कभी चरित्र के प्रश्न को उठाया गया है तो कभी वाग्मिता या सम्बोधन के प्रश्न को, कभी बाहर के वास्तव और भीतर के वास्तव के प्रश्न को तो कभी इनके आपसी सम्बन्ध के प्रश्न को, कभी काल-बोध की समस्या को उठाया गया है तो कभी अन्तर्बोध की समस्या को। इनके साथ और सवाल भी जुड़ गए हैं—शुद्धता का, इंगित लेखक का, देश का, आयाम का आदि। इसका एक परिणाम यह निकलने लगा कि उपन्यास की परख-पहचान या मूल्यांकन की पुरानी पद्धति न केवल अधूरी पड़ गई है, असंगत होने की गवाही भी देने लगी है। कथानक, चरित्र चित्रण, उद्देश्य आदि की बात तो अब भी होती है लेकिन यह इतनी बदल चुकी है कि इसे पुरानी दृष्टि से पहचानना कठिन हो गया है। ओरतेगा की एक छोटी सी किताब **कला का अमानवीकरण** ने कविता और कथा-साहित्य की आलोचना में इतनी हलचल मचा दी है कि बहस आज भी जारी और गरम है। इस में उपन्यास की पहचान के लिए जिस **अटानोमी** सिद्धांत का निरूपण किया गया है उसके पक्ष और विपक्ष में काफी सोचा और लिखा गया है। इस मतभेद के मूल में आधुनिकता की चुनौती है जो आलोचना को नये आयाम दे रही है।

ओरतेगा के **अमानवीकरण** की बात नये और पुराने संगीत में अन्तर से चली थी और इसने चित्रकला, कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक को भी घेर लिया। आधुनिक कला भाती नहीं है। क्यों नहीं भाती है को बताने के साथ वास्तव क्या है, विधा क्या है, रूप क्या है, पाठक कौन है, लेखक या कलाकार क्या करता रहा है, क्या कर रहा है—अनेक सवाल जुड़ते चले गए। इन सवालों का जवाब देने की अपनी कोशिश को ओरतेगा ने **कला का अमानवीकरण** कहा है। इस दृष्टि का निरूपण भी हुआ है और घोर विरोध भी। इसके अनुसार रोमांटिकवाद और वास्तववाद दोनों में कलागत बात कम से कम थी; कला-कृतियाँ आधी-अधूरी थीं, कलागत वस्तुएं थीं। वह स्वयं कला की शुद्धता का सवाल उठाकर इसका जवाब **नहीं** में देते हैं शुद्ध कला शायद सम्भव नहीं है; लेकिन इसके साथ यह भी जोड़ देते हैं कि इसकी शुद्धि हो सकती है। यह **कला कला के लिए** से नितान्त भिन्न है। आज युवा पीढ़ी को प्रेमचन्द का उपन्यास बोर करता है, इसमें मैल अखरती है जो लेखक के बार बार दखल देने में है, वाग्मिता या सम्बोधन में है। इस लिए सवाल लेखक और इंगित लेखक का पैदा हो गया है। क्या लेखक पूरी तरह गायब हो भी सकता है या नहीं अगर गायब नहीं हो सकता तो क्या छिपकर वह इंगित हो सकता है। इसी तरह क्या **वास्तव** को उपन्यास में केवल कहना या पेश करना है या उजागर करना है। परम्परागत कला की कब्र आज खोदी जा रही है या खुद चुकी है, छायावाद और नयी कविता चुक गए हैं, प्रेमचन्द परम्परा का उपन्यास आज पाठक को अखरने लगा है, जीवन्त रूपों से अगर परहेज़ होने लगा है तो इसे समय की पुकार और मांग कहा जाता है। इस आधार पर तो **युद्ध और शांति**,-**जान क्रिस्तोफी**, **गोदान** आदि महान कृतियों का निषेध करना लाज़मी हो जाता है। यह कृति की राह से इसकी

पहचान नहो कर **कृतिवाद** है जो एक बाड़ा बनने का खतरा मोल ले सकता है, आधुनिकता न होकर आधुनिकवाद के घेरे में बन्द होकर प्रक्रिया से वंचित हो जाता है। इतना साहस तो ओरतेगा के पास भी नहीं था कि महान कृतियों को बाहर निकाल कर फेंक दिया जाए। इसके साथ जब यह जोड़ दिया जाता है कि उपन्यास की विधा में कुछ गड़बड़ है, मैल है जिसे धोना है ता यह सवाल पैदा हो जाता है—क्या उपन्यास में मैल को धोया भी जा सकता है या नहीं—यह सही है कि उपन्यास में मलबे का स्थान नहीं होता, लेकिन मैल की बात कविता, संगीत-कला और चित्र-कला में एक हद तक सही हो सकती है, उपन्यास पर इसे आरोपित करना कठिन है। इस से जुड़ा हुआ यह सवाल है कि आज के आधार पर पुरानी कृतियों की पहचान और परख संगत है या असंगत। क्या हर उपन्यास अपनी पहचान खुद बेहतर नहीं करवा सकता ?

एक बड़ा सवाल यह है—वास्तव क्या है जिसे उपन्यास में कहा गया है पेश किया गया है या उजागर किया गया है ? इसके बारे में हर वास्तववादी और आवास्तववादी आलोचक की अपनी अपनी राय है। लेखक ने इसका जवाब अपने उपन्यासों में देने की कोशिश की है और आलोचक ने कृति का मूल्यांकन करते समय। जायस ने अपने उपन्यासों में दोनों तरह दिया है। विदेशी आलोचना की एक लम्बी परम्परा है और भारत में या हिन्दी में इसकी शुरूआत है जिसे समकालीन उपन्यासकार पहचानने की कोशिश में हैं। इसी तरह बाहर और भीतर के वास्तव की टकराहट नैतिकता, राजनैतिकता आदि के प्रश्नों को खड़ा कर देती है। एक तरफ तो यह कहा जाता है कि उपन्यासकार ने एक ऐसे संसार की रचनी करनी है जिसकी दीवारों में सूराख नहीं होते। वह जितना चाहे वास्तववादी हो सकता है, उपन्यास का संसार जितना चाहे जीवन के निकट हो सकता है, लेकिन जब तक कृति बाहर के संसार की याद दिलाने से रोकती नहीं है तब तक वह असफल है। यह सही है कि उपन्यास में राजनीति, समाजशास्त्र, लालित्य-शास्त्र हो सकता है, लेकिन उपन्यास राजनीतिक, समाजशास्त्रीय या लालित्यशास्त्रीय नहीं हो सकता। उसके अपने कला-नियम होते हैं जिसके आधार पर उसकी परख-पहचान संगत जान पड़ती है। क्या पहचान काफी नहीं है ? क्या परख लाज़मी है ? यह एक पेचीदा सवाल है। पहचान तो इसकी राह से गुज़र कर की जा सकती है, लेकिन परख का आधार क्या हो। एक कृति दूसरी कृति से बेहतर है तो परखने की कसौटी क्या हो, इस कसौटी को स्थापित करने के लिए अक्सर बाड़ेबाज़ी से काम लिया जाता रहा है।

इसी तरह एक और बड़ा सवाल यह है कि चरित्र क्या है ! पहले के उपन्यासों पर नाटक की विधा का गहरा असर था, मंच का गहरा प्रभाव था। इसलिए यह नारा बुलन्द किया गया कि उपन्यास का **नाटकीकरण** करो। आज का नारा यह है—**कथावाचन** करो। यह आवाज़ भी पिछले कुछ सालों में धीमी पड़ रही है। प्रेमचन्द और अज्ञेय के उपन्यास में लेखक खुदा था जो चरित्र के बाहर-भीतर को जानता था। आज वह शायद खुदा-सा भी नहीं रहा। इसलिए चरित्र उपन्यास के मरकज़ में होकर इसकी परिधि में फेंका जा रहा है। निर्मल वर्मा के **वे दिन** में रायना का चरित्र-चित्रण नहीं किया गया है। उसकी स्थितियों को कहा गया है। हिन्दी उपन्यास के बारे में आलोचना भी इतनी आगे नहीं बढ़ सकी है, जितनी कविता के बारे में। यह शायद इसलिए है कि उपन्यास के क्षेत्र में प्रयोग कम हुए हैं। इस विधा की सरहदों को इतना नहीं खोजा गया है। औसत पाठक के लिए औसत उपन्यास की रचना होती रही है। आलोचक को सृजनात्मक चुनौती का सामना करने के लिए अपने हथियारों को तेज़ करने की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ी है, लेकिन आलोचनात्मक प्रक्रिया अब सृजनात्मक होने की गवाही देने लगी है। इसलिए बदीउज्जमां का **एक चूहे की मौत**, निर्मल वर्मा का **वे दिन** जैसी कृतियों की पहचान और परख के लिए आलोचना की पुरानी पद्धति काम नहीं आ सकती। यदि उपन्यास का पुराना चौखटा टूटने लगा है तो आलोचना का पुराना बाड़ा किस तरह कायम रह सकता है !

—:०:—
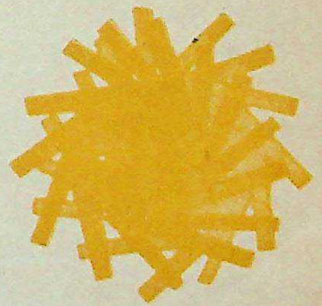
शोध निबन्ध

डा० जय प्रकाश
द्वारा 'विविधा'
भगवन्तनगर, हरदोई (उ० प्र०)

कविता और अर्थबोध का संकट

कविता के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य-शास्त्र ने शब्द और अर्थ की मनोहारिता की दिशा में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता को पूरी शक्ति से उभारा था। इसीलिए भारत का प्रत्येक साहित्यशास्त्री कविता की परिभाषा का प्रारम्भ 'शब्दार्थौ' से करता है। कविता में शब्दों की प्राथमिक स्थिति के समर्थन में संस्कृत के तथाकथित देहवादी मतवाद जन्मे और मिटे। अर्थ की गम्भीरता और महनीयता के महत्त्व को रेखांकित करने के प्रयास में रस और ध्वनि ने अपनी शक्ति का पूरा उपयोग किया। इन मतवादों का अपना इतिहास है। कविता की शाश्वत समस्या अर्थ-बोध की है, जिसका सीधा सम्बन्ध कवि तथा उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा से है। इसी समस्या की गहराई को आँकने में रिम्बो की बात याद आती है, और वह बात यह है कि 'कविता कला का वह रूप है, जिस पर भाषा की असमर्थता अंकित होती है। कवि वह अभागा प्राणी है, जो भाव और शब्द के बीच की दूरी में भटकता रहता है।' रिम्बो भाषा की जिस असमर्थता की बात करते हैं, वह कविता की भाषा के साथ-साथ कविता में अर्थ की समस्या को भी गहराती है।

कविता में अर्थ-बोध के संकट का एक इतिहास है। संस्कृत के अलंकारवादी समीक्षकों ने कविता में अलंकार को अनिवार्यता प्रदान कर उक्ति की वक्रता के महत्त्व को परोक्ष रूप से स्वीकार किया था। वक्र उक्ति की प्रतिबद्धता तराशे हुए अर्थ के प्रति निर्बाध थी, जिसके विकृत उदाहरण प्रत्यक्षर-श्लेष, प्रहेलिकाओं तथा पञ्चनलियों में देखे जा सकते हैं। यह एक अतिवाद ही था, जिसके मोह में कवि सहजता की एकान्त उपेक्षा कर विकटाक्षर पदबन्धों के व्यूह में घुसता ही चला गया। सहज उक्ति को उस युग के सृजन ने 'कविता' की मान्यता दी ही नहीं, वरन् उसे 'वार्ता' कहकर तिरस्कृत भी किया।[1] कविता और गद्य की भाषा का दिशान्तर यहीं स्पष्ट होने लगा था। कविता भाषा की पारदर्शिता, सपाटबयानी तथा सहजता को गद्य की परिधि में निक्षिप्त कर देती थी। उक्ति की वक्रता के प्रति निर्मोही नयी कविता ने अर्थबोध के संकट को 'सपाट-बयानी' के सहारे झेलना चाहा। लेकिन इसकी प्रतिक्रिया में न केवल इसकी केन्द्रीय स्थिति को नकारा गया, वरन् इसे कविता के वृत्त से बाहर फेंकने के लिए इस प्रकार की सफ़ाई दी गयी—"भाव-व्यंजना की इन दोनों शैलियों में जहाँ गद्य व्यास-पद्धति को अपनाता है, वहाँ पद्य समास-पद्धति को। गद्य में जहाँ विवेचना तक की अधिक क्षमता होती है, वहाँ पद्य में लय के साथ भाव-प्रसूत चित्र अधिक स्पष्ट तथा हृदयग्राही होते हैं। अतएव काव्य में से जब लय को निकाल दिया जाता है, तो भावाभिव्यक्ति बुद्धिपरक हो जाती है और हम उसे गद्य ही कह सकते हैं।"[2] इतिहास यहीं पर स्वयं को दोहराता है। नयी कविता की व्यापक अस्वीकृति भामह जैसे कुटिलार्थवादी समीक्षकों के पुनः अवतरण को सूचित करती है।

गद्य की भाषा अधिकांश में सीधी और सपाट होती

---

१. गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥
— भामह

२. प्रतापसिंह चौहान: नई कविता (समीक्षा), आलोचना, अक्टूबर १९५६

है। गद्य अपनी ऋजुता में ही आकर्षक लगता है। इसीलिए कविता की अपेक्षा गद्य की भाषा अधिक मुखर होती है। कविता के अर्थ-गौरव को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः यह कहा गया था कि 'कविता के शब्द जिस फ्रेम में फिट होते हैं, उसमें गद्य के शब्द अजनबी लगते हैं।' पहले यह धारणा प्रचलित थी कि कविता में महत्त्व शब्दों की विवक्षा का न होकर सम्प्रेषण की विधि का होता है। इसी सन्दर्भ में जॉन हास्पर्स का वक्तव्य स्मरणीय है, "मानव मन की अनेक अनुभूतियाँ, विचार और दशाएँ अवर्णनीय होती हैं, किंतु कविता की चरितार्थता इस बात में है कि वह शब्दों के उचित संयोजन द्वारा उनका पुनर्सृजन कर सकने में कितनी सफल है[१]!" हिन्दी की समकालीन कविता ने अपना ध्यान विवक्षा पर ही केन्द्रित कर इस धारणा को प्रश्नचिह्नित किया है। यह संयोग ही कहा जायेगा कि 'खुल गये छंद के बंध' का जो उद्घोष कविता में भाषा को सपाटता और शक्ति देने के लिए किया गया था, उसका महत्त्व किसी खंडहर पर खुदे रह गये शासक के शासन-काल के समान ऐतिहासिक भर होकर रह गया। इस उद्घोष से अर्थबोध की समस्या को पहचानने का प्रयास अवश्य किया गया था किंतु कालान्तर की रचनाओं से यह सिद्ध नहीं हो सका कि सपाटबयानी की राह पकड़कर भी कविता साफ़ और पारदर्शी हो सकी है। अज्ञेय ने बड़े ज़ोर से यह आवाज़ दी थी कि 'ये उपमान मैले हो गये हैं।' इससे यह सम्भावना बढ़ी थी कि नयी कविता में शब्दों की अर्थवत्ता को बल मिलेगा। लेकिन सम्भावित कुछ भी नहीं हुआ। जो कुछ हुआ, उसका दृश्यालेख यह है, "निराला ने कहा था कि गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है। नई कविता ने गद्य के नज़दीक आकर उससे गहरी आत्मीयता स्थापित कर अपने को जीवन-संग्राम की उतनी ही उद्दाम, सहज और उत्तेजक भाषा बना लिया जितनी समकालीन गद्य की है!......लेकिन सपाटबयानी जल्दी ही सतही और यांत्रिक बखान का पर्याय बन गई और समकालीन यथार्थ का बड़ा अबोध बखान उसके माध्यम से हो रहा है[१]।" इस प्रकार हिन्दी कविता ने अर्थबोध के संकट से त्राण पाने के लिए गद्य के वृत्त में पलायन किया, किंतु समस्या का समाधान फिर भी नहीं हो सका। गद्य की भाषा की सफ़ाई और सादगी अभी कविता से बहुत दूर है! इसका मूल कारण यह है कि गद्य में जितना कहा जाता है, उतना ही समझा जाता है। इसके विपरीत कविता में जितना कहा जाता है, समझा उससे अधिक जाता है[२]। इसलिए कविता की भाषा प्रकृत्या पारदर्शी नहीं होती। इसीलिए इसमें अर्थ का संकट गम्भीर रहता है। इस संकट की अपर दिशाएँ भी हैं।

१. जॉन हास्पर्स: मीनिंग ऐण्ड ट्रुथ इन द आर्ट्स, पृ० १३०

कविता आन्दोलित मानव-हृदय को शब्द-परिधि में बाँधने के प्रयास में शब्दों की सामर्थ्य को दबाती हुई चलती है। प्रत्येक कला आवान्तर अर्थों की आयोजना में सचेष्ट रहती है। कविता कम से कम शब्दों का उपयोग करते हुए अधिक से अधिक भावों का सम्प्रेषण करना चाहती है। एक पश्चिमी विचारक का कथन है कि कविता में कथ्य उसके कथन की अपेक्षा सदैव अधिक विपर्यस्त रहता है।[३] किन्तु यह स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। कभी तो कवि संकेत मात्र से ही सब कुछ कह जाता है किन्तु कभी-कभी सब कुछ कह लेने पर भी विवक्षित अनकहा ही रह जाता है। 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' की उक्ति की विवशता का रहस्य यहीं पर खुलता है। 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'शुद्ध कविता की खोज' में एक फ्रांसीसी विचारक को उद्धृत किया है। उसका दम्भपूर्ण वक्तव्य यह है—"मुझे इस बात पर नाज़ है कि मैंने एक ऐसी भाषा का आविष्कार किया है, जो किसी समय सभी

१. अशोक वाजपेयी: समकालीन कविता-एक दृश्यालेख (निबंध)

२. ए० हावेल: ए क्वेश्चन ऑफ फार्म (पोएट्री रिव्यू), अंक LX—स्प्रिंग १६६६

3. What the poem says is always more than what is said in the poem,"— R. L. Brett : Reason and Imagination

इन्द्रियों की भाषा बन जायेगी। मैंने नीरवता का अंकन किया है, मैंने रात्रि को वाणी दी है। मैंने उसे लिखा है, जा अगदित और अकथ्य है।" इस दम्भपूर्ण वक्तव्य से एक बात तो प्रकट होती ही है कि अगदित और अकथ्य को झेलने में हमारी सामान्य भाषा असमर्थ है। उसके सम्मुख समस्या केवल अर्थबोध की ही नहीं है, सम्प्रेषण की भी है। जटिल मनः स्थितियों को कवि किस प्रकार शब्द-बिम्बों में बाँधे, यह एक पुरानी समस्या रही है। इसी के समाधान के लिए आस्कर वाइल्ड जैसे विचारकों ने कहा था, कि विषय कोई वस्तु नहीं है। असली काम विषय को किसी सृजनशील, आविष्कारात्मक शैली के द्वारा अंकित करना है और शैली की यही आविष्कार-मयी भंगिमा चित्र का प्राण है। कविता का आनन्द भी उसमें वर्णित विषय से उत्पन्न नहीं होता, वह लयमयी भाषा के आविष्कारपूर्ण प्रयोग से आता है।' बात चाहे 'इन्द्रियों की भाषा' की हो अथवा 'लयमयी भाषा के आविष्कारपूर्ण प्रयोग की', एक बात स्पष्ट है कि कवि के सम्मुख अभिव्यक्ति का संकट आता है तो कवि को शब्दों की शक्ति को प्रयत्न करके बढ़ाना पड़ता है। यदि इस दृष्टि से विचार करें तो अज्ञेय का कहना है कि 'ये उप-मान मैले हो गये हैं' किसी विसंगति का आभास नहीं देता। 'दिनकर' ने तो साफ कहा है—

"तन्तुओं के जाल शब्द को जो कहीं बाँधते हों,
सारे बन्धनों के तार तोड़ दो;
अर्थ से बचो कि अर्थ बेड़ी है परम्परा की,
अर्थ को दबाने से ही शब्द बड़ा होता है!
निश्चित-अनिश्चित का संगम जहाँ है सूक्ष्म,
कविता का सद्म निरालम्ब खड़ा होता है!"[१]

ऋग्वेद की एक ऋचा में एक मंत्रद्रष्टा ऋषि ने कहा है कि वाणी कामिनी की भाँति प्रिय के सम्मुख समर्पण वाली होती है।[२] भाव यह है कि वाणी विवक्षा के अनुकूल ही शब्दों को जुटाती चलती है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति को भी अपनी भाषा की प्रेषणीयता पर अगाध विश्वास था। दम्भ के लहज़े में 'उत्तररामचरित' के प्रारम्भ में उन्होंने कहा था कि वाणी वश्या की भाँति उनकी अनुगामिनी है। राम के विरह-दग्ध हृदय की भाव-दशा के संयत प्रकाशन के लिए प्रस्तर-खण्डों के रुदन तथा-वज्र के हृदय-दलन की कवि-उक्ति, कवि के इस दम्भ की शक्ति का ही उद्घाटन नहीं करती बरन् करुणा की निर्वा-च्यता शब्दों की आरोपित अर्थवत्ता को भी प्रकट करती है। वाच्यता से निर्वाच्यता तक की शब्द-यात्रा उस अर्थ-गत संकट की ओर इंगित करती है, जिसके मूल में शब्दों की असमर्थता के साथ-साथ अर्थ की गुरुता भी है। अर्थ-बोध का संकट कवि की मानसिक ऊर्जा पर अधिक निर्भर रहता है। इलिया एहरनेवर्ग ने एक स्थल पर कहा था कि 'कविता में एक तड़पता हुआ दिल होना चाहिए, जो इस जलते हुए सत्य को अपने शब्दों में व्यक्त कर सके।' इस वक्तव्य के आलोक में कविता के दो प्रतिमान प्रकट हैं। एक, अनुभूति की प्रामाणिकता तथा दूसरा अभिव्यक्ति की व्यापकता। इन दोनों प्रतिमानों का सम्बन्ध अर्थबोध से है।

अनुभूति की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अतएव सन्दर्भ के अनुरोध के कारण इसकी चर्चा अर्थबोध की दृष्टि से ही यहाँ की जायेगी। अर्थबोध की समस्या कवि, कृति और पाठक तीनों बिन्दुओं से जुड़ी है। अर्थबोध के संकट की एक स्थिति वह होती है, जिसमें कवि ही अपने में साफ़ नहीं होता या उसके पास कुछ भी कहने को नहीं रहता। ऐसी स्थिति में कविता दुरूह हो जाती है। सम्भवतः इसी प्रकार के अर्थबोध के संदर्भ में ईलियट ने कहा था कि 'एक दुरूहता तो केवल बहाना ही है। कभी-कभी कवि के पास कहने की कोई गम्भीर बात नहीं होती, किन्तु वह इस भ्रम में पड़ जाता है कि उसका कथ्य बड़ा ही गम्भीर है। अतएव उसके भ्रम की अभिव्यक्ति दुरूह हो जाती है।' धर्मवीर भारती अनु-भूति की अप्रामाणिकता के कारण उत्पन्न कलात्मक संकट को इस प्रकार तराशते हैं, "जब कलाकार अपनी अन्तः-

---

१. दिनकर: पुरानी और नयी कविताएँ

२. उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः
ऋग्वेद १०-७१-४-५

प्रेरणा का सामना नहीं कर पाता, जो कृति उसमें से उद्भूत होना चाहती है, उससे वह बाहर की ओर भागता है। कुछ आरोपित धारणाएं स्वीकार करता है, चाहे वह आर्थिक प्रलोभन के कारण हों या राजनीतिक दबाव के कारण या सस्ती लोकप्रियता के कारण—उस समय वह अपनी अन्तःप्रेरणा से पलायन करता है। फलस्वरूप उसकी कृतियाँ झूठी पड़ने लगती हैं और उनका कलात्मक स्तर समाप्त हो जाता है।[१]" इसलिए आरोपित तथा ओढ़ी हुई संवेदनाओं की अभिव्यक्ति प्रामाणिक अनुभूति के अभाव में स्वयमेव दुर्बोध बन जाती है। समकालीन रचनाओं में इस प्रकार के उदाहरण प्रचुर हैं।

संग्राहक की दृष्टि से कविता और उसके अर्थबोध पर विचार करते हुए जार्ज रसेल ने कहा था कि 'जब मैं यह जानना चाहता हूँ कि कोई कविता अच्छी है या नहीं, तब मैं अपने आप से यह प्रश्न करता हूँ कि यह कविता पारदर्शी है या अंधी, अर्थात जो कुछ भी है, वह कविता के ऊपर ही है या उसके भीतर भी कुछ दिखलाई पड़ता है, और मुझे जब यह मालूम होता है कि कविता पारदर्शी है, तब मैं अपने आप से दूसरा प्रश्न करता हूँ कि कविता के भीतर मुझे कितनी दूर की चीज़ दिखाई देती है।' संस्कृत में कालिदास, हिन्दी में तुलसी, अंग्रेजी में शेक्सपीयर तथा उर्दू में ग़ालिब पारदर्शी रचनाओं के कारण ही लोकप्रिय हुए हैं। यदि कवि अनुभूति की प्रामाणिकता को साथ लेकर चले, तो सम्प्रेषण की समस्या का अधिकांश स्वतः ही हल हो जाता है। कवि अपनी रचनाओं में जिन शब्दों का प्रयोग करता है, वे शब्द कवि-प्रतिभा के दबाव के कारण स्वतः अधिक सम्प्रेषण करने में समर्थ हो जाते हैं। 'अज्ञेय' ने एक स्थान पर लिखा है: —

किसी को
शब्द हैं सीपियाँ,
लाखों का उलटफेर
कभी एक मोती मिल जायेगा।

इसलिए शब्दों की शक्ति को पहचानना और उनमें अधिक शक्ति भर देना कवि की ऊर्जा पर निर्भर रहता है। यह कहना ठीक नहीं लगता कि वाणी-विधान कविता के सम्प्रेषण में सर्वथा अयोग्य है। सच बात तो रिम्बो ने कही थी, 'कविता के शब्दों में सनसनाहट होती है, खुशबू होती है, ध्वनि और रंग होता है। शब्द स्वतः ही सत्यवादी और ईमानदार होते हैं अगर उन पर ऐतिहासिक सत्यों के धब्बे न पड़े हों।' भाषा में सम्प्रेषण की क्षमता तो कविता से ही आती है, ऐसा एक विचारक का मत है।[1]

कविता में सम्प्रेषण और अर्थबोध का सीधा सम्बन्ध शब्दों से है। ये शब्द किसी के लिए 'सीपी' और किसी के लिए 'मोती' होते हैं। ग़ालिब को उर्दू की कविता में जो सुयश मिला है, उसका मूल कारण उनकी कविता में निहित कथ्य की सघनता है। ग़ालिब ने कम से कम कहा और अधिकतम सम्प्रेषित किया। सम्प्रेषण का यही उत्कर्ष है,[2] अर्थबोध की जटिलता यहीं पर सबसे कम है। आश्चर्य की बात है कि सम्प्रेषण के धनी ग़ालिब भी अर्थबोध के संकट से स्वयं को मुक्त नहीं पाते —

बकद्र-ए-ज़र्फ़ नहीं है ये तंगनाये ग़ज़ल
कुछ और चाहिए वसअत मेरे बयाँ के लिए !

ग़ालिब अनुभव करते हैं कि ग़ज़ल में वे वह सब कुछ नहीं कह पाते, जो वे कहना चाहते हैं। इसीलिए वे वाणी के विस्तार के आकांक्षी हैं। कविता अपने प्राथमिक सोपान में उस मानस-तनाव की देन होती है, जिसे कवि ने पूरी तरह जिया होता है। घनीभूत भावों की सहज अभिव्यक्ति

---

१. धर्मवीर भारती: काव्य-सृजन (निबंध), आधार पत्रिका (नयी कविता विशेषांक)

1. A History of Language is written not from the Logicians' but from poets' point of view.

— Owen Banfield.

2. Herbert Read: The Drift of modern Poetry — (Encounter), Januuary 1955,—"An image is always Jealous of words, that is to say it is most effective when conveyed in a minimum of words."—Page 7.

की वाच्यता के परे रहती है। शब्द सम्प्रेषण की इस विवशता की क्षतिपूर्ति व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान में करने का प्रयास करते अवश्य हैं, किन्तु यह इस बात पर निर्भर करती है कि संग्राहक में कितनी ग्राहिका-शक्ति है। कवि इससे मुक्त नहीं हो जाता, न ही उसे यह परितोष ही हो सकता है कि उसने कथ्य को ईमानदारी से प्रकट कर दिया है। यह ठीक ही कहा था कि 'कवि के शब्द कविता के शब्द नहीं होते, अधिक से अधिक, वे कविता के अत्यन्त समीप के शब्द होते हैं। कविता कहकर जितना कहती है, न कहकर उससे बहुत अधिक कह जाती है।' इसका कारण यह है कि कविता की मूल प्रकृति वक्र अभिव्यक्ति की है, जो सम्प्रेषण के ध्रुवान्त का स्पर्श करने में सक्षम सिद्ध हो सकती है। टिलयार्ड महोदय का वक्तव्य इसका साक्षी है।[1]

कविता वाणी का असामान्य व्यापार है, जो अतीन्द्रिय एवं अनिर्वचनीय को भी अनुभूति का विषय बनाने का प्रयास करती रही है। कविता में हमारा सामान्य जीवन भी असामान्यता लेकर आता है। इस असामान्यता की अभिव्यक्ति के कारण ही कवि को 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कहा गया। कॉलरिज ने तो यहाँ तक कह डाला कि साधारण व्यक्तियों से तो अपनी छाया ही नहीं लाँघी जाती किन्तु कवि तो मृत्यु तक के ऊपर छलाँग लगा देते हैं।[2] मानव-मन के सूक्ष्म अधिवासों की अवर्ण्य भाव-भंगिमाएँ कविता की वर्ण्य-वस्तु होती हैं, उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति में कविता सर्वथा सक्षम सिद्ध नहीं हो पाती। इसी की व्यवस्था में उपनिषदों को 'पश्य देवस्य काव्यम्' कहकर भी 'नेति नेति' का विधान करना पड़ता है। तुलसी की 'श्याम-गौर' की दिदृक्षा 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' में अपना परितोष खोजती है। बिहारी नायिका की स्नेह-निष्यन्दिनी दृष्टि का सम्प्रेषण 'वह चितवनि औरै कछू' के माध्यम से करने पर विवश हो जाते हैं। सम्प्रेषण में कवि की विवशता आलडिंगटन के इन शब्दों में उजागर है, "मैं तुम तक कैसे पहुँच सकता हूँ? तुम मेरी बाँहों में आबद्ध हो किन्तु तुम्हारा जो साररूप है, वह अब भी मुझसे दूर है। तुम्हारी आत्मा की रीढ़ तक पहुँचना मेरे लिए दुष्कर कार्य है।[1]" कवि का प्रयत्न भाव-दशा का पाठक या श्रोता को बोध कराने का होता है। शब्द-प्रतीक उस विवक्षा के सामने घुटने टेक देते हैं। रत्नाकर के 'उद्धव-शतक' में कृष्ण विरह-कथा के प्रकाशन में शब्दों को असमर्थ पाकर अन्य व्यपदेशों का ही आश्रय लेते हैं। दिनकर की ये पंक्तियाँ इसी बात को बड़ी सफाई से आगे बढ़ाती हैं—

> 'जब तक मिलती थाह, तभी तक सारे शब्द मुखर हैं।
> पर, आयेगा जब अथाह, सब मौन ग्रहण कर लेंगे।
> मन में कहीं अगाध एक ऐसी भी गहराई है,
> जहाँ पहुँच फूटते न कोई बोल कला के मुख से;
> रह जाती निर्वाक्, ठगी की ठगी, महा विस्मय में,
> घोर मूकता में कहती सब कथा बिना शब्दों के
> जो शब्दों में किसी भाँति भी कही नहीं जाती है[2]।'

शब्दों की गति इन्द्रिय-जगत् तक ही है। अतीन्द्रिय संवेदनाओं के बोध की क्षमता शब्दार्थ में नहीं है। ऐसी स्थिति में तो शब्द को रहस्यमय प्रतीक बन जाना पड़ता है, जो मनुष्य की चेतना को इतना आन्दोलित कर दे कि उसका संवाद कवि की मानसिक स्थिति से होने लगे। स्टीफेन मलार्मे ने ठीक ही कहा था कि रहस्य का अधिवास संगीत में तो समझा ही जाता है, किन्तु शब्द भी कम रहस्यमय नहीं होते।[3] कविता में प्रायः ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जब अर्थबोध का संकट आ जाता है। कभी-कभी विधिमुखी शब्द निषेध के लिए प्रयुक्त होते हैं और निषेधमुखी शब्द अनुमति के लिए। ऐसे ही स्थलों पर

---

1. Tillyard: Poetry—Direct and oblique—"All poetry is oblique; there is no direct poetry."
2. "No one can leap over his own shadow, but poets leap over death."— S. T. Coleridge.

१. दिनकर द्वारा 'शुद्ध कविता की खोज' में पृष्ठ ११६ पर उद्धृत।
२. दिनकर : कोयला और कवित्व
3. Mallarme: Mystery in Literature—"Mystery is said to be the Music's domain. But written word also lays claim to it."

शब्दों की क्षिप्रगति दर्शनीय होती है। 'काव्यमीमाँस' का एक श्लोक है :—

भक्तु विदितं शब्दा वक्तुर्विवक्षितसूचका:
स्मरवतियत: कान्ते कान्तां बलात् परिचुम्बति।
न न न म मा मा मां स्प्राक्षी: निषेधपरं वच:
भवति शिथिले मानग्रन्थौ तदेव विधायकम्॥

भाव यह है कि शब्दों में शब्दार्थ उतना प्रमुख नहीं होता, जितनी की वक्ता की विवक्षा। मान के शिथिल होने पर नायिका कामदग्ध नायक से कहती तो यही है कि 'मुझे स्पर्श न करो' वह इसका निषेधात्मक अर्थ न ग्रहण करके उसका बलात् परिचुम्बन ही करता है। यहीं पर बरट्रैंड रसेल के इस कथन की चरितार्थता समझी जा सकती है कि भाषा तथ्य का ही नहीं, मिथ्या का भी प्रकाशन करती है।[१]

1. It is interesting that language can state fact, it is also interesting that it can state false."— Bertrand Russel : An Inquiry into Meaning and Truth, Page 204.

—: ० :—

डा० सियाराम तिवारी
हिंदी-विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर-५ (बिहार)

काव्यभाषा की भूमिका

रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि काव्यभाषा ही काव्य को संघटित करती है।[1] इसका कारण हर्बर्ट रीड के कथन में पाया जा सकता है। उसका कहना है कि कविता सदैव और अपने सभी रूपों में शब्द और उसके साहचर्यों में निवास करती है।[2] वस्तुतः भाषा और काव्य में एक-दूसरे का गुण प्राकृतिक रूप में विद्यमान है। यदि भाषा की प्रकृति काव्यात्मक होती है तो कविता की प्रकृति भी भाषात्मक है।[3] भाषा और काव्य की इसी अनन्यता का परिणाम है कि भाषा जब करवट बदलती है तो काव्य में क्रांति हो जाती है।[4] यही कारण है कि कविता में छंद[5], रूपगठन[1] और कथावस्तु[2] से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है भाषा। कविता के भेदक तत्त्वों में भाषा अन्यतम है। फलतः कवि की पहचान, उसके बड़प्पन की पहचान भाषा है। ७ मई, १९६७ के **दिनमान** में मैथिलीशरण गुप्त की एक कविता के एक चरण "नर हो न निराश करो मन को" में सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती की शैली में तीन और चरण जोड़कर छंद पूरा करने की प्रतियोगिता प्रकाशित हुई थी। छहों कवियों की कविताओं के भेदक तत्त्वों में से पहली दृष्टि भाषा पर पड़ती है। भाषा कवि का परिचय है। इसी तरह भाषा कवि के बड़प्पन का भी प्रमाण है। एल० एबरक्रॉम्बी का कहना है कि होमर, दांते, शेक्सपीयर, मिल्टन जैसे लेखक महत्तम अनुभवों को देने में इसलिए सफल हुए हैं कि भाषा पर भी उनका सर्वश्रेष्ठ अधिकार था।[3] भाषा और काव्य के इसी सम्बंध के कारण काव्यालोचन में भी भाषा का स्थान प्राथमिक और सर्वोच्च होता है। हजारी प्रसाद

---

१. एम० एम० भट्टाचार्यी, **रवीन्द्रनाथ टैगोर : पोयट ऐंड थिंकर** (इलाहाबाद, १९६१), पृ० १२४।

२. हर्बर्ट रीड, **फॉर्म इन मॉडर्न पोयट्री** (लंदन, १९५७) पृ० ७२।

३. वोस्लर, **दि स्पिरिट ऑव लैंग्वेज इन सिविलाइजेशन** (लंदन, १९५१), पृ० २३१-३२।

४. देवराज उपाध्याय, "अभिमत", **आचार्य दंडी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन,** जयशंकर त्रिपाठी (इलाहाबाद,१९६८) पृ० ११।

५. एल० एबर-क्रॉम्बी, **पोयट्री : इट्स म्युजिक ऐन्ड मीनिंग** (लंदन, १९३२), पृ० ४७।

---

१. कोन्स्तान्तिन फेदिन, "लेखक और उसकी कला", अनु० अमृत राय, **आलोचना त्रैमासिक** (दिल्ली अक्तूबर १९५४) पृ० ४९।

२. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **भाषा और संवेदना** (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६४), पृ० ३८

३. एल० एबरक्रॉम्बी, **प्रिंसिप्ल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म** (बम्बई १९५९), पृ० ४८।

द्विवेदी लिखते हैं कि मानसिक स्तर की सौंदर्य-बोध-चर्चा का आरम्भ भाषा की समस्या से होता है[1] तो डेविड लॉज मानता है कि भाषा काव्यालोचन का उपक्रम और उद्देश्य, दोनों है जबकि उपन्यासालोचन का वह केवल उपक्रम है।[2]

यह काव्य की भाषा कई प्रकार के कार्य करती है। प्रथमतः, यह राष्ट्रीय भाषा को शुद्ध करती है।[3] भाषा रूपकों से बनी होती है और ये रूपक जब निष्प्राण हो जाते हैं तो कविता ही उनमें प्राण संचार करती है। द्वितीयतः, परम्परा, जो काव्य के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है, को यह सुरक्षित रखती है।[4]

हिन्दी में 'काव्य भाषा का' प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक अर्थ में वह एक भाषा विशेष होती है जिसका एक-व्याकरण होता है और जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि से किसी भाषा-परिवार की सदस्या होती है। इस अर्थ में हिंदी-काव्य-साहित्य में ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली मुख्य काव्यभाषाएँ हैं। वस्तुतः ये काव्य-भाषाएँ नहीं, माध्यम भाषाएँ हैं। माध्यम-भाषा और काव्यभाषा का अंतर स्पष्ट है। माध्यम-भाषा एक सामूहिक वस्तु है, किंतु काव्यभाषा एक वैयक्तिक वस्तु होती है। एक ही माध्यम-भाषा में रचना करने वाले कवि-कवि की भाषा भिन्न-भिन्न होती है। काव्यभाषा का व्याकरण वैयाकरणों का नहीं, कवियों का होता है। ऐसे व्याकरण से अनुशासित वह काव्यभाषा सार्वभौम और सार्वकालिक हो जाती है। यही कारण है कि संस्कृत और हिन्दी (भिन्नकालिक) काव्यभाषा की तुलना हो सकती है तो हिन्दी और अँग्रेजी (भिन्नदेशीय) काव्यभाषा की भी तुलना हो सकती है।

प्रत्येक विकसित भाषा के कई स्तर होते हैं। प्रथम स्तर पर कोई भाषा दो प्रकार की होती है—बोलचाल की भाषा और वाङ्मय की भाषा। द्वितीय स्तर पर वाङ्मय की भाषा भी दो खण्डों में विभक्त हो जाती है। ज्ञान विज्ञान अर्थात् पारिमाणिक विवेचन की भाषा रचनात्मक साहित्य की भाषा से पृथक् हो जाती है। तृतीय स्तर पर काव्य की भाषा काव्येतर रचनात्मक साहित्य की भाषा से अलग हो जाती है। और अंतिम स्तर पर जाकर काव्य की भाषा भी प्रबंध एवं गीतिकाव्य के अनुसार भिन्न-भिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रयोगानुसार भाषा के स्तर होते हैं—

१. बोलचाल की भाषा
२. ज्ञान-विज्ञान अर्थात् पारिभाषिक विवेचन की भाषा
३. काव्येतर रचनात्मक साहित्य (उपन्यासादि) की भाषा
४. प्रबंध काव्य की भाषा
५. गीतिकाव्य की भाषा

इन सबका विवेचन स्वतंत्र निबंध का विषय है। यहाँ इतना ही संकेत कर देना अलम् है कि इन सभी रूपों की अपेक्षा काव्य की भाषा अत्यंत समृद्ध और व्यापक होती है।[1]

काव्यभाषा-विवेचन ज्ञान की किस शाखा के अंतर्गत परिगणनीय है, इसका निर्णय भी अपेक्षित है। इस पर तीन दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। प्रथमतः, सभी प्रकार की भाषाओं का विवेचन करना भाषाविज्ञान का कर्त्तव्य होता है,[2] अतः काव्य की भाषा का अध्ययन उसके क्षेत्र

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, "लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्ण भाषा", **आलोचना त्रैमासिक** (दिल्ली, पूर्णांक ४०), पृ० २८।

२. डेविड लॉज, **लैंग्वेज ऑव फिक्शन** (लंदन, १९६६) पृ० ३२।

३. डोनाल्ड डेवी, **प्योरिटी ऑव डिक्शन इन इंगलिश वर्स** (लंदन, १९५२), पृ० ६२।

४. जॉन लिविंग्स्टन लीवेस, **कनवेंशन एण्ड रिवोल्ट इन पोयट्री** (लंदन, १९३८), पृ० ३२।

---

१. एलिजाबेथ ड्रिउ और जार्ज कोनर, **डिस्कवरिंग मॉडर्न पोयट्री** (न्यूयार्क, १९६३), पृ० १।

२. माइकेल ए० के० हैलिडे, "दि लिंग्विस्टिक स्टडी ऑव लिटररी टेक्स्ट्स" **प्रोसीडिंग्स ऑव दि नाइंथ इंटर-नेशनल कांग्रेस ऑव लिंग्विस्ट्स,** स० होरेस जी० लंट (हेग, १९६४), पृ० ३०२।

से बाहर नहीं है । सामान्य भाषा और काव्य की भाषा में एक स्पष्ट अंतर होता है, इस कारण यह शंका की जा सकती है कि एक ही भाषावैज्ञानिक पद्धति से दोनों का अध्ययन कैसे हो सकता है । यह सत्य है कि साहित्य की भाषा एक सिद्ध और विशिष्ट भाषा है किंतु भाषावैज्ञानिक को भाषा के दोनों रूपों—विशिष्ट और सामान्य से अपना मतलब रखना होता है ।[1] इसका एक कारण है । ध्वनि का अध्ययन भाषाविज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है और इसकी सामग्री उसे काव्य की भाषा से भी प्राप्त होती है । काव्य और नाटक में भाषा के ध्वनिक (फोनिक) रूप का बड़ा महत्व है । इस प्रकार काव्य और नाटक की भाषा में ध्वनि वैज्ञानिक को प्रचुर अध्ययन-सामग्री प्राप्त होती है । वोस्लर ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि भाषा में काव्यात्मक प्रवृत्ति न रहे तो ध्वनिविज्ञान (फोनेटिक्स) और ध्वनिप्रक्रिया विज्ञान (फोनोलॉजी) विज्ञान हो ही नहीं सकेंगे ।[2] अतः भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता का आधार काव्य ठहरता है ।

भाषाविज्ञान के साथ काव्यभाषा के इस सम्बंध को ध्यान में रखकर ही जॉन स्पेंसर ने कहा है कि कम साहित्यिक विद्वान यह राय देंगे कि भाषा पर ध्यान दिये बिना साहित्य का संतोषजनक अध्ययन हो सकता है और इसी प्रकार ऐसे भाषावैज्ञानिक अधिक नहीं होंगे जो साहित्यिक विद्वानों का पथ-प्रदर्शन लिए बिना साहित्यिक भाषा के अध्ययन को उचित ठहरायेंगे ।[3] एडवर्ड स्टैंकिविज ने इस बात पर और बल देते हुए कहा है कि भाषा के संघटन को निश्चित करने वाले नियमों को ध्यान में रखे बिना कविता का विद्यार्थी कविता की भाषा की प्रकृति की व्याख्या उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार भाषावैज्ञानिक कविता

१. विद्यानिवास मिश्र, "भाषा, लक्ष्य और लक्षण" **भाषा, त्रैमासिक** (दिल्ली, सितम्बर, १९६५), पृ० १२ ।

२. पा० टि० ३ के समान, पृ० २२६ ।

३. जॉन स्पेंसर, **लिंग्विस्टिक्स ऐंड स्टाइल** (लंदन, १९६५) इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ७ ।

के विशिष्ट स्वरूप को प्रभावित करनेवाली परम्परा और संस्कृति की शक्तियों पर विचार किये बिना काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूपों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकता ।[1] भाषावैज्ञानिक तथा साहित्यिक अध्ययन की इस परस्पर पोषकता के कारण अब माना जाने लगा है कि भाषावैज्ञानिक पद्धति पर काव्य का अध्ययन सम्भव ही नहीं, उचित भी है ।[2] और, काव्य का अध्ययन वस्तुतः भाषा का अध्ययन है, इसलिए काव्यभाषा का ही अध्ययन भाषावैज्ञानिक पद्धति पर होता है ।

काव्यभाषा-विश्लेषण के सम्बंध में एक दूसरा भी दृष्टिकोण है । वह यह कि काव्यालोचन एवं काव्यशास्त्र का भाषाविज्ञान से साम्य है । यह साम्य कई रूपों में प्रकट है । भाषाविज्ञान साहित्यालोचन को उसी प्रकार सैद्धांतिक आधार देता है जिस प्रकार गणित भौतिकविज्ञान को ।[3] यह तो साहित्यालोचन की बात हुई, साहित्यशास्त्र को तो भौतिकविज्ञान और रसायनविज्ञान के समान ही विज्ञान बताया गया, क्योंकि इसके सामान्य नियम और सिद्धांत सार्वभौम होते हैं ।[4] साहित्यशास्त्र को भौतिकविज्ञान और रसायनविज्ञान के समान विज्ञान मानना अतिवादी मत कहा जा सकता है, परन्तु भाषाविज्ञान और साहित्यशास्त्र का सम्बंध अस्वीकार नहीं किया जा सकता । फ्रायड्रिक श्लेगेल ने आलोचनात्मक क्रिया-कलाप में भाषा विज्ञान के योगदान पर बल दिया है ।[5] रोमाँ याकोब्सन के अनुसार साहित्य शास्त्र को भाषाविज्ञान से पृथक रखने का अर्थ भाषाविज्ञान के क्षेत्र को अनुचित रूप से संकुचित

१. उपरिवत्, पृ० १०५ पर पा० टि० में उद्धृत ।

२. पा० टि० १४ के समान ।

३. डोनाल्ड सी. फ्रीमैन, स०, **लिंग्विस्टिक्स ऐंड लिटररी स्टाइल** (न्यूयार्क, १९७०), इंट्रोडक्शन, पृ० ३ ।

४. मुकुन्द माधव शर्मा, **दि ध्वनि थ्योरी इन संस्कृत पोयटिक्स** (वाराणसी, १९६८), पृ० ३ ।

५. रेने वेलेक **ए हिस्ट्री ऑव मॉडर्न क्रिटिसिज्म** (लंदन, १९६१), पृ० ८ ।

कर देना है,[1] क्योंकि सौन्दर्य शास्त्र और भाषाविज्ञान दोनों एक ही दृश्यसत्ता (फेनोमेनन) से सम्बंधित हैं।[2] क्रोचे ने भाषाविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र की एकता पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **एस्थेटिक** में विस्तार से विचार किया है। उसका निष्कर्ष है कि भाषा का दर्शन और कला का दर्शन एक ही चीज है।[3] इसकी पुष्टि में उसने कहा है कि भाषा विज्ञान की वैज्ञानिक समस्याएँ वे ही हैं जो सौंदर्य-शास्त्र की हैं[4] और इसीलिए एक स्तर पर जाकर भाषा विज्ञान सौंदर्यशास्त्र में विलीन हो जाता है।[5]

तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार कुछ विचारक काव्यशास्त्र का सम्बंध दर्शन और कुछ व्याकरणशास्त्र से मानते हैं। महेश्वरानंद सरस्वती के अनुसार काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व है रस और रस-विषयक चर्चा दर्शन के भीतर आ भी सकती है।[6] एस० के० डे और नगेंद्र काव्यशास्त्र का सम्बंध व्याकरणशास्त्र से स्वीकार करते हैं। एस० के० डे व्याकरण और काव्यशास्त्र में घनिष्ठ सम्बंध मानते हैं[7] तो नगेंद्र व्याकरणशास्त्र को काव्यशास्त्र का मूलाधार ही बताते हैं।[8]

ऊपर जितने विचार सामने आये हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए दो बातों का सुलझाना आवश्यक प्रतीत होता है। (१) साहित्यालोचन साहित्यशास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र क्या एक हैं और यदि नहीं तो इनका पारस्परिक अंतर क्या है। (२) काव्यभाषा-विश्लेषण भाषाविज्ञान के अंतर्गत है, उसी के समान एक विज्ञान है, व्याकरण के सदृश एक शास्त्र है अथवा दर्शन है।

पहली समस्या पर विचार किया जाय। 'साहित्यालोचन' अँग्रेजी के 'लिटररी क्रिटिसिज्म' का पर्याय है जिसके अंतर्गत सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना आ जाती है। सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का अंतर स्पष्ट है। सैद्धांतिक आलोचना की विधि आगमनात्मक (इंडक्टिव) होती है, वह उपलब्ध साहित्य का पर्यालोचन कर तत्सम्बंधी सामान्य सिद्धांतों की स्थापना करती है। इसके विपरीत व्यावहारिक आलोचना की विधि प्रायः निगमनात्मक (डिडक्टिव) होती है, अर्थात वह सामान्य सिद्धांतों के आधार पर कृति का विश्लेषण करती है। सैद्धांतिक आलोचना और साहित्यशास्त्र अभिन्न हैं और ये दोनों विज्ञान हैं। सौंदर्यशास्त्र की सीमा साहित्यालोचन और साहित्यशास्त्र, दोनों की अपेक्षा विस्तृत है, अर्थात् सौंदर्यशास्त्र साहित्य के साथ-साथ अन्य सभी उपयोगी एवं ललित कलाओं का अध्ययन करता है।[1] क्रोचे ने अपनी पुस्तक **एस्थेटिक** को अभिव्यक्ति का विज्ञान और सामान्य भाषाविज्ञान कहा है। इस प्रकार विवेच्य वस्तु भी दृष्टि से सौंदर्यशास्त्र साहित्यालोचन और साहित्यशास्त्र से तुलनीय नहीं है। किंतु यदि एक ओर कला भी आलोचना से घनिष्ठतया सम्बंधित होने[2] के कारण सौंदर्यशास्त्र का सम्बंध साहित्यालोचन से हो जाता है तो दूसरी ओर आधुनिक सौंदर्यशास्त्र आधुनिक विज्ञान (इम्पायरिकल साइंस) का रूप-ग्रहण कर[3] साहित्य-

---

१. पा० टि० १४ के समान।

२. निल्स एरिक इंकविस्ट, "ऑन डिफाइनिंग स्टाइल", **लिंग्विस्टिक्स ऐन्ड स्टाइल**, स० जॉन स्पेंसर (लंदन, १९६५), पृ० ७।

३. क्रोचे, **एस्थेटिक**, अनु० डुगलस ऐंस्ली (लंदन १९६७) पृ० १४२।

४. उपरिवत्, पृ० १५१

५. उपरिवत्, पृ० १५२।

६. महेश्वरानंद सरस्वती, "भूमिका", **भारतीय साहित्य दर्शन**, राममूर्ति त्रिपाठी (वाराणसी, १९५९) पृ० ३।

७. एस० के० डे० **संस्कृत पोयटिक्स ऐज ए स्टडी ऑव एस्थेटिक्स** (बम्बई, १९६३), पृ० २।

८. नगेन्द्र, **विचार और विवेचन** (दिल्ली प्र० व्र० अनु०) पृ० ५।

---

१. **इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका**, १९६८ संस्करण।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्।

शास्त्र के निकट चला गया है। इस तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्यालोचन में कला और विज्ञान, दोनों के अंश हैं किंतु साहित्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र केवल विज्ञान है। दूसरी बात यह है कि भाषा का विश्लेषण इन तीनों का अंग है, इसलिए काव्यभाषा-विश्लेषण के स्वरूप निर्धारण के प्रसंग में इन तीनों का तुलनात्मक परिचय आवश्यक था।

अब इस स्थल पर विज्ञान, शास्त्र और दर्शन का पारस्परिक अंतर स्पष्ट कर यह बताना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्यभाषा-विवेचन इन तीनों में से क्या है। सर्वप्रथम शास्त्र और दर्शन का अंतर स्पष्ट किया जाय। 'शास्त्र' की दो व्युत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं—शासन करनेवाला, अर्थात् विधि-निषेध का समादेष्टा और शंसन्, अर्थात् प्रतिपादन करनेवाला।[1] लोक में इसका पहला ही अर्थ प्रचलित है, किंतु वाङ्मय की कतिपय विधाओं के साथ संयुक्त होकर यह अपना दूसरा अर्थ ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि विधि-निषेध का विधान ही नहीं बल्कि किसी विषय के गूढ़ तत्व का प्रतिपादन भी 'शास्त्र' संज्ञा का अधिकारी है। यही कारण है कि **गीता** में 'शास्त्र' और 'विज्ञान' पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं और 'विज्ञान' का वहाँ अर्थ है तत्वज्ञान।[2] किंतु आज लोक-व्यवहार में इसका अर्थ है किसी विषय पर समष्टि-अध्ययन का संचित भंडार। इस प्रकार दर्शन और शास्त्र का अंतर स्पष्ट है। 'दर्शन' का अर्थ है दृष्टि और इस तरह वह अनुभव या प्रत्यक्ष का भी बोधक है।[3] अतः शास्त्र का आधार हो जाता है चिंतन और दर्शन का आधार हो जाता है अनुभव। 'दृश्' धातु से व्युत्पन्न 'दर्शन' में आत्मगतता का भाव स्वतः आ जाता है जबकि 'शास्त्र' में इसका कोई भाव नहीं होने के कारण वस्तुगतता की ओर उसका झुकाव सहज ही हो जाता है। इस रूप में शास्त्र विज्ञान के निकट चला जाता है।

आधुनिक अर्थ में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। आधुनिक अर्थ में वैज्ञानिक अध्ययन की चार विशेषताएँ होती हैं—(१) सामान्यता (जेनरलिटी), (२) निश्चितता (सर्टेंटी), (३) यथार्थता (एक्युरेसी) और क्रमबद्धता (सिस्टम)। इन चार विशेषताओं से युक्त विज्ञान दो प्रकार का होता है—व्यावहारिक (प्रैक्टिकल) और मानकीय (नॉर्मेटिव)। इन दोनों का अंतर यह है कि जहाँ व्यावहारिक विज्ञान एक विशेष ध्येय की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधनों पर विचार करता है वहाँ मानकीय विज्ञान ध्येय के स्वरूप का ही अन्वेषण करता है जिससे मानक, आदर्श अथवा प्रतिमान का निर्माण होता है।[1] इस प्रकार दर्शन और विज्ञान का भी अंतर प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रथमतः, विज्ञान की पद्धति आनुभविक (इम्पायरिकल) और आगमनात्मक (इंडक्टिव) है जबकि दर्शन की पद्धति आनुभविक के साथ-साथ तर्कणापरक (रेशनल) और आगमनात्मक के साथ-साथ निगमनात्मक (डिडक्टिव) भी है। द्वितीयतः विज्ञान अपने निष्कर्षों में सूक्ष्म है, परंतु दर्शन अपनी व्याख्या में ठोस है। तृतीयतः, विज्ञान और दर्शन, दोनों का लक्ष्य व्याख्या है। किन्तु विज्ञान विभागीय व्याख्या से संन्तुष्ट हो जाता है जबकि दर्शन अंतिम व्याख्या की खोज में रहता है।[2]

अब विचारणय है कि काव्य भाषा-विवेचन इनमें से क्या

---

१. विश्वेश्वर, "भूमिका", **काव्य प्रकाश**, मम्मट (वाराणसी. २०२४) वि० पृ० २।

२. सप्तम अध्याय के द्वितीय श्लोक में कृष्ण ने कहा—"ज्ञानं तेऽहं **सविज्ञानमिदं** वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज्ज्ञात-व्यमवशिष्यते॥" और ज्ञानोपदेश की समाप्ति के उपरांत पंद्रहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में कहा—"इति गुह्यतमं **शास्त्रमिदमुक्तं** मयानध। एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥"

३. पा० टि० २८ के समान, पृ० २१।

---

१. अम्बिकाचरण मित्रा, **दि प्रिंसिपल्स ऑव लॉजिक, वॉ० १** (कलकत्ता, १९२२), पृ० २६-३१ के आधार पर।

२. हरिमोहन भट्टाचार्य, **दि प्रिंसिप्ल्स ऑव फिलॉसफी** (कलकत्ता, १९५९), पृ० १७—२३ के आधार पर।

हैं। काव्यभाषा-विश्लेषण शास्त्र नहीं हो सकता। 'शास्त्र' का यदि पहला अर्थ लें कि वह शासन करता है तो इस दृष्टि से काव्यभाषा-विवेचन शास्त्र नहीं है। कारण, इसमें विधि-निषेध का अभाव होता है। भाषा और काव्य में कोई अन्तर नहीं है। अतः जिस प्रकार काव्य के संबंध में विधि-निषेध नहीं चलता, उसी प्रकार काव्यभाषा के विषय में भी विधि निषेध नहीं चलता। कवि शिक्षा के ग्रंथ बने, रीति-शास्त्र का निर्माण हुआ, फिर भी काव्य-रचना के क्षेत्र में विधि-निषेध का प्रतिपादन न हो सका। अतएव काव्यभाषा के लिए भी विधि-निषेध सम्भव नहीं। यदि 'शास्त्र' का दूसरा अर्थ लें तो काव्यभाषा-विश्लेषण वह भी नहीं है क्योंकि इसके मूल में चिंतन नहीं बल्कि प्रत्यक्ष है। कवि काव्य में जिस भाषा की खोज करता हैं वह प्रत्यक्ष है और उसके विश्लेषण के मूल में चिन्तन नहीं है।

इसी प्रकार काव्यभाषा-विश्लेषण दर्शन भी नहीं है। यह अलग बात है कि दर्शन और काव्यभाषा-विश्लेषण में कई प्रकार का साम्य भी है। दर्शन के समान काव्यभाषा-विश्लेषण का भी लक्ष्य व्याख्या है और दर्शन के समान इसकी व्याख्या भी ठोस होती है। फिर, जिस प्रकार दर्शन के दो पक्ष हैं आलोचनात्मक (क्रिटिकल) और मीमांसात्मक (स्पेकुलेटिव)[१], उसी प्रकार काव्य-भाषा-विश्लेषण के भी ये दो पक्ष हैं। किन्तु दर्शन से काव्यभाषा-विश्लेषण का वैषम्य भी स्पष्ट है। यह ठीक है कि दर्शन के समान इसका भी लक्ष्य व्याख्या है, पर दर्शन अंतिम व्याख्या की खोज में रहता है। यह विशेष तथ्यों के आधार पर नियमों की स्थापना तक ही सीमित न रहकर उसके आगे यथार्थता अथवा ठोस सार्वभौमता तक जाता है। काव्यभाषा-विश्लेषण प्रथम स्तर तक ही रह जाता है, अर्थात् वह विशेष प्रयोगों के आधार पर सामान्यता की स्थापना करता है। इस प्रकार काव्यभाषा-विश्लेषण दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के निकट हो जाता है क्योंकि विज्ञान का कार्य भी तथ्यों का नियम के अंतर्गत ले आना है। दर्शन से काव्यभाषा-विश्लेषण का दूसरा अंतर भी इसे दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के निकट ले जाता है। दर्शन की पद्धति आगमनात्मक (इंडक्टिव) और निगमनात्मक (डिडक्टिव), दोनों होती है, परन्तु काव्य-भाषा-विवेचन की पद्धति केवल आगमनात्मक होती है। यह भी विज्ञान की विशेषता होती है। फिर, दार्शनिक प्रणाली आनुभविक (इम्पायरिकल) के साथ- साथ तर्कणा-परक (रेशनल) होती है, काव्यभाषा-विश्लेषण प्रथम तक ही सीमित रहता है। वह प्रयोग (यूजेज) के तथ्यों का विश्लेषण कर ऐसा आगमन (इंडक्शन) करता है जिसमें उच्चतम सामान्यता रहती है। दर्शन के समान काव्यभाषा-विश्लेषण इस सामान्यता के आगे नहीं जाता, अर्थात् वह दर्शन के समान वैसी व्याख्या नहीं देता जो अनुभवगम्य न होकर बुद्धिगम्य है। यह भी वैज्ञानिक प्रणाली की ही विशेषता है। निष्कर्ष यह है कि काव्यभाषा-विश्लेषण की पद्धति दार्शनिक न होकर वैज्ञानिक ही प्रतीत होती है।

अब परीक्षणीय है कि विज्ञान की कितनी विशेषताएं इसमें हैं। विज्ञान की पहली विशेषता है सामान्यता। विज्ञान एक निश्चित वर्ग के तथ्यों के आधार पर सामान्य नियमों की खोज करता है, यही उसकी सामान्यता है। काव्यभाषा में भी इस प्रकार की सामान्यता रहती है। विज्ञान की दूसरी विशेषता निश्चितता भी काव्यभाषा-विश्लेषण में द्रष्टव्य है। अनेक कवियों के प्रयोगों के परिदर्शन के आधार पर काव्यभाषा के सिद्धांत स्थिर होते हैं, अतः उनमें निश्चितता होती है। विज्ञान की तीसरी विशेषता यथार्थता (एक्युरेसी) भी काव्यभाषा-विश्लेषण में देखी जाती है। काव्यभाषा-विश्लेषण से जो सामान्य नियम सामने आते हैं, वे तार्किक औचित्य से परे नहीं होते हैं। तार्किक दृष्टि से उनका परीक्षण और सत्यापन सम्भव है। इस प्रकार काव्यभाषा के सिद्धांतों में यथार्थता भी रहती है। विज्ञान की चौथी और अंतिम विशेषता क्रम-बद्धता भी काव्यभाषा-विवेचन में देखी जाती है। काव्य-भाषा का अपना एक क्षेत्र है और उस सीमित क्षेत्र के भीतर उसके अनेक क्रमबद्ध वर्ग हैं। काव्यभाषा-विश्लेषण

---

१. उपरिवत्, पृ० २२।

अपने भीतर उन सभी वर्गों को क्रमबद्ध रूप से समेट लेता है और इस प्रकार पूर्णता को प्राप्त करता है। इस तरह काव्यभाषा-विश्लेषण की वैज्ञानिकता सिद्ध है।

अब यह देखना है कि यह व्यावहारिक (प्रैक्टिकल) विज्ञान है अथवा मानकीय (नार्मेटिव)। व्यावहारिक विज्ञान एक निश्चित लक्ष्य की सिद्धि के लिए साधनों को निश्चित करता है जबकि मानकीय विज्ञान लक्ष्य की विशेषताओं का ही विश्लेषण करता है। काव्यभाषा-विश्लेषण यह नहीं बताता कि अमुक प्रकार के प्रभाव के लिए अमुक प्रकार के प्रयोग अपेक्षित हैं। वह एक निश्चित प्रभाव के लिए भाषा की खोज नहीं करता। भाषा की खोज काव्य का लक्ष्य है और उस खोजी हुई भाषा का विश्लेषण ही काव्यभाषा-विश्लेषण है। इस प्रकार काव्य-भाषा-विश्लेषण मानकीय विज्ञान ठहरता है और इसके लिए काव्यभाषा-विज्ञान अभिधा उपयुक्त प्रतीत होती है।

काव्यभाषा की वैज्ञानिकता की जांच के लिए अन्त में दो अन्य दृष्टियों से भी इस पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कोई विवेचन विज्ञान के अंतर्गत परिगणनीय है या नहीं, यह जानने के लिए दो बातों का निश्चय आवश्यक होता है। प्रथमतः, यह परीक्षणीय होता है कि विवेच्य वस्तु की व्याप्ति स्थानीय है अथवा सार्वत्रिक, एककालिक है अथवा सार्वकालिक और द्वितीयतः, यह द्रष्टव्य होता है कि विवेच्य विषय का एक स्वतंत्र अनुशासन है अथवा नहीं।

काव्य और काव्यभाषा की व्याप्ति के विषय में परस्पर विरोधी विचार प्राप्त होते हैं। यदि ऑडेन के अनुसार कविता में कोई "अन्तरराष्ट्रीय शैली" नहीं हो सकती है[1] तो हंस मागनुस एन्त्सन्सबर्गर एक "विश्व-काव्य-भाषा" की बात करता है। एन्त्सन्सबर्गर के अनुसार आधुनिक काव्य की प्रक्रिया एक विश्व-काव्य-भाषा के उद्गम की ओर उन्मुख करती है। यह (विश्व-काव्य-भाषा) विविध भाषाओं में बोलती है और यह काव्य को राष्ट्रीय साहित्य के समस्त बंधनों से मुक्त करती है, परन्तु स्थान विशेष की धरती से उच्छेदन अथवा अमूर्त में नंगी जड़ें फैलाने के लिए नहीं।[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी और वी० के० गोकक भी काव्य और काव्यभाषा की विश्व-व्यापकता का संकेत करते हैं। द्विवेदीजी का कथन है कि आंतरिक सौंदर्यानुभूति और बाहरी असुन्दर-सी लगनेवाली परिस्थिति की टकराहट से जो विक्षोभ पैदा होता है वह सभी देशों में काव्यभाषा को मुखर बना देता है।[2] द्विवेदीजी के कथन से निष्कर्षित होता है कि काव्य की भाषा की दिशाएं सभी देशों में एक होती हैं क्योंकि जब कारण एक है अर्थात् जब आंतरिक सौंदर्यानुभूति और बाहरी असुन्दर-सी लगनेवाली परिस्थिति की टकराहट से उत्पन्न विक्षोभ ही सभी देशों में काव्य की भाषा को मुखर बनाता है तब उस मुखरित काव्यभाषा में देशगत विशिष्टता के बावजूद एक प्रकार की समानता भी अवश्य होनी चाहिए। वस्तुतः कविता एक विश्वव्यापी धर्म है जिसके पुराणशास्त्र को प्रायः प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है, कमसे कम कोई विरोध नहीं करता।[3] इस सार्वभौमता के साथ-साथ कविता में सार्वकालिकता भी होती है। एलिजाबेथ ड्रिउ का कहना है कि कविता की मूल प्रकृति और उसका प्रकार्य (फंक्शन) सभी कालों में एक रहता

---

१. डब्ल्यू० एच० ऑडेन, **दि डायर्स हैंड एण्ड अदर एस्सेज** (न्यूयार्क, १९६२), पृ० २३।

---

१. २३, फरवरी, १९६७ को मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली में एक गोष्ठी आयोजित हुई थी। उसका विवरण लोढार लुत्से द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था जिसमें आंतरिक मुख-पृष्ठ के बाद एन्त्सन्सबर्गर के विचार उद्धृत हैं।

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **साहित्य-सहचर** (वाराणसी, १९६५), पृ० ७२।

३. वी० के० गोकक, **दि पोयटिक एप्रोच टु लैंग्वेज** (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२), पृ० १८६।

है।[१] काव्य एवं काव्यभाषा की यह सार्वत्रिकता तथा सार्वकालिकता उसके विवेचन की वैज्ञानिकता की प्रथम प्रमाण है।

काव्यभाषा-विश्लेषण की वैज्ञानिकता का द्वितीय प्रमाण यह है कि काव्यभाषा का अपना स्वतंत्र अनुशासन है। व्यावहारिक आलोचना का अपना स्वतंत्र अनुशासन माना जाता है और व्यावहारिक आलोचना शब्द-संघटना की सम्पूर्ण अर्थवत्ता के उद्‌घाटन की विधि है।[२] इस प्रकार व्यावहारिक आलोचना का सारा सम्बंध काव्यभाषा से हो जाता है और इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि यदि व्यावहारिक आलोचना का अपना स्वतंत्र अनुशासन है तो काव्यभाषा का भी अपना स्वतंत्र अनुशासन होना चाहिए। विचारकों ने इसकी ओर संकेत किया भी है। विद्यानिवास मिश्र मानते हैं कि आधुनिक भाषाविज्ञान काव्य की पूर्ण मीमांसा करने में अक्षम है और इसीलिए उन्होंने कहा कि आधुनिक भाषा विज्ञान और प्राचीन भारतीय शब्दार्थ-चिंतन को आमने-सामने रखकर काव्यभाषा-विवेचन के वैज्ञानिक और सार्वभौम सिद्धांत प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[३] ये सिद्धांत निश्चय ही काव्यभाषा-विज्ञान कहलाने के अधिकारी होंगे। निष्कर्ष यह है कि काव्यभाषा का विवेचन भाषाविज्ञान के अंतर्गत नहीं बल्कि उसीके समान एक स्वतंत्र विज्ञान है।

भाषा, काव्य, शैलीशास्त्र एवं साहित्यालोचन के सम्बंध में कुछ ऐसी बातें कही गयी हैं जो काव्यभाषा-विज्ञान के मार्ग में बाधक हो सकती हैं। अतः इन पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। भाषा के सम्बंध में कुछ ऐसी बातें हैं जो काव्यभाषा-विवेचन की वैज्ञानिकता पर प्रश्न-चिह्न लगा सकती हैं। ऐसी पहली बात यह है कि प्रयोग,

१. पा० टि० १३ के समान, पृ० २।
२. रॉबर्ट मिलर और यान क्युरी, **दि लैंग्वेज ऑव पोयट्री** (लंदन १९७०), भूमिका।
३. विद्यानिवास मिश्र, "काव्यभाषा और काव्येतर भाषा", **आलोचना त्रैमासिक** (दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६८), पृ० ४।

जो भाषा का सार है, प्रत्येक भाषा का अपना होता है और यह अपने नियमों के अनुसार परिवर्तित होता है।[१] इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में सार्वभौमता नहीं हो सकती। अर्थात् सर्वभौमता, जो विज्ञान की अनिवार्य शर्त्त है, भाषा के क्षेत्र में अनुपस्थित रहती है। यदि ऐसी बात है, तो फिर काव्यभाषा में ही सार्वभौमता किस प्रकार आ सकती है? ऐसी दूसरी बात यह है कि प्रत्येक देश की रुचि के भिन्न-भिन्न होने के कारण आलंकारिक भाषा भी प्रत्येक देश की अपनी होती है।[२] भारत में यदि 'काले केश' चलते हैं तो पाश्चात्य जगत् में 'सुनहले केश,' भारत में 'काली' आँखें, चलती हैं तो वहाँ 'नीली आँखें'। इस प्रकार की अनेक विभिन्नताएं देश-देश के अनुसार मिलती हैं। तात्पर्य यह है कि भाषा ही नहीं, काव्यात्मक भाषा में भी देशगत भिन्नता होती है। इस अभाव के रहते हुए काव्यभाषा में सार्वत्रिकता की कल्पना नहीं की जा सकती, तब काव्यभाषा के सम्बंध में सार्वभौम सिद्धान्त किस प्रकार स्थिर हो सकेंगे?

प्रथम के विरुद्ध तीन बातें कही जा सकती हैं। (१) भाषाओं में देशगत भिन्नता के बावजूद एक प्रकार का साम्य है और वह यह कि सभी में कविता की प्राकृतिक शक्ति अंतर्निष्ट होती है।[३] इस प्रकार यद्यपि सभी भाषाएँ बाहर से अलग-अलग दिखायी पड़ती हैं तथापि सभी की आत्मा एक होती है। यह उसी प्रकार है जैसे संसार के मनुष्य रूपादिगत वैषम्य रखते हुए भी एक धरातल पर समान हैं। अर्थात् भाषाओं में जो भिन्नता दिखायी पड़ती है वह बाह्य है, आंतरिक नहीं। (२) मूल भाषाओं में इस प्रकार के साम्य के कारण तो काव्य भाषा की सार्वभौमता की कल्पना की ही जा सकती है, एक और बात है जिससे उसकी सार्वत्रिकता सिद्ध होती है। सभी देशों और सभी कालों की भाषा के बाह्यतः अलग-अलग होने पर भी सभी देशों और सभी कालों के कवि-तत्तत् भाषाओं से एक ही

१. पा० टि० ४३ के समान, पृ० २२३।
२. हरदेव बाहरी, **हिंदी सेमांटिक्स** (इलाहाबाद, १९५९) पृ० ३०३।
३. पा० टि० ४३ के समान, पृ० २२५।

प्रकार से जूझते हैं क्योंकि काव्य रचना की प्रक्रिया सनातन और सार्वभौम है। (३) सभी देशों और सभी युगों के कवि ही भाषा की समस्या से एक ही प्रकार से नहीं उलझते हैं बल्कि काव्यभाषा का प्रभाव भी सभी देशों और सभी कालों के व्यक्तियों पर एक समान पड़ता है। किसी सामान्य भाषा से अनभिज्ञ श्रोता उस भाषा की कविता का पाठ सुनकर उसी रस में प्रवाहित होने लगता है जो उस कविता में अभिव्यंजित है। ऐसा काव्यभाषा की सार्वभौमता के कारण ही होता है।

इसी प्रकार यद्यपि आलंकारिक भाषा प्रत्येक देश की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है तथापि उस रुचि में साम्य भी कम नहीं होता है और आलंकारिक भाषा भी बहुत दूर तक एक होती है। अंतर भी जो दिखाई पड़ता है वह केवल अलंकार (फीगर्स) के स्वरूप में है। अलंकार के मूल में जो प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है वह सर्वत्र एक है। यही नहीं, स्वरूपगत साम्य रखने वाले अलंकार भी कम नहीं मिलते हैं। 'मीठे वचन' (स्वीट वर्ड्स), 'आरे के दाँत' (टीथ ऑव दि सॉ), 'ऊँचे विचार (हाइ थॉट) आदि द्रष्टव्य हैं।

अब काव्य पर विचार किया जाय। कहा गया है कि काव्य की संरचना (स्ट्रक्चर) भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न होती है।[1] मार्जोरी बाउल्टन ने अनेक भाषाओं का उदाहरण देकर अपने मंतव्य को पुष्ट किया है। उसने लिखा है कि अँग्रेजी में लय का आधार होता है बलाघात (स्ट्रेस) जबकि फ्रेंच में अक्षरों (सिलेब्ल्स) की संख्या का महत्त्व होता है. फिर ग्रीक और लैटिन कविता में दीर्घ तथा लघु अक्षरों से आकृति (पैटर्न) का निर्माण होता है। बाउल्टन का कथन सत्य है, पर इससे काव्य भाषा की सार्वभौमता खंडित नहीं होती। बाउल्टन को जिस भाषा की बात करनी है वह सामान्य भाषा है, काव्य-भाषा नहीं।

---

१. मार्जोरी बाउल्टन, **दि एनेटोमी ऑव पोयट्री** (लंदन, १९५९), पृ० २१।

इसी तरह शैलीशास्त्र के सम्बंध में भी कुछ ऐसी बातें कही गयी हैं जिनपर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। काव्यभाषा जब वैयक्तिक शैली का रूप ग्रहण करती है तब वह कवि की प्रकृति को ही प्रतिबिम्बित नहीं करती बल्कि व्यक्तित्व का सूक्ष्मतर प्रकटन होती है।[1] यही कारण है कि एक ही रीति वैदर्भी अथवा गौड़ी में लिखने वाले दो कवियों की भाषा में अंतर दिखायी पड़ता है। शैली की इसी विशेषता के कारण शैलीशास्त्र के विज्ञान बनने में भी बाधा रही है। रिफैतेरे ने लिखा है कि आत्मगत प्रभाववाद (सब्जेक्टिव इम्प्रेसनिज्म), मानवीय भाषणशास्त्र (नॉर्मेटिव रटेरिक) और अपरिपक्व सौंदर्य-शास्त्रीय मूल्यांकन बहुत दिनों तक शैलीशास्त्र के विज्ञान के रूप में विकास में बाधक रहे हैं।[2] जो भी हो, शैली तथा शैलीशास्त्र की इस विशेषता से काव्यभाषा की सार्वत्रिकता समाप्त नहीं होती। यह ठीक है कि शैली कवि के व्यक्तित्व एवं उसकी प्रकृति को प्रतिबिम्बित करती है, परन्तु यह कार्य वह निरपवाद रूप से तथा सभी कवियों के साथ एक ही समान करती है। इसी तत्त्व में शैली की सार्वत्रिकता छिपी है।

अंत में, साहित्यालोचन अथवा लिटररी क्रिटिसिज्म के सम्बंध में कही गयी इस प्रकार की बातों पर विचार किया जाय। ऊपर कहा जा चुका है कि लिटररी क्रिटिसिज्म के अंतर्गत व्यावहारिक और सैद्धांतिक, दोनों प्रकार की आलोचना समाविष्ट होती है। इसीलिए अँग्रेजी आलोचना में लिटररी क्रिटिसिज्म की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता पर पर्याप्त विमर्श हुआ है। सर्वप्रथम उन कारणों को सूचीबद्ध किया जाय जो इसकी वैज्ञानिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। ऐसे एक कारण की ओर रिफैतेरे के आधार पर डेविड लॉज ने संकेत किया है। उसका कहना है कि रचनाकार का संदेश को भाषाबद्ध करना स्थायी है किंतु उसके अर्थ निकालने की प्रक्रिया कालानुसार भाषा-

---

१. कृष्ण चैतन्य, **संस्कृतपोयटिक्स** (बम्बई, १९६५) पृ० १०७।

२. पा० टि० १० के समान, पृ० ५८ पर उद्धृत।

परिवर्त्तन के साथ बदलती रहती है ।[१] तात्पर्य यह है कि कलाकृति तो शाश्वत है, पर उसके प्रति प्रमाता की प्रतिक्रिया शाश्वत नहीं है । यही कारण है कि साहित्यालोचन विज्ञान नहीं हो सकता । इसी से मिलती जुलती बात जॉन बक्स्टन ने कही है । वह आलोचना को वैज्ञानिक नहीं, तुलनात्मक अध्ययन बताता है और इसके कारणों का उल्लेख करते हुए कहता है कि आलोचना में पूर्ण और अंतिम निर्णय नहीं होता, वंशानुवंश स्वीकृत होने वाला अकाट्य प्रमाण नहीं होता और सर्वश्रेष्ठ आलोचक वह होता है जो कलाकृति को विनम्रता पूर्वक समझता-समझाता है ।[२] ऐसा तीसरा कारण एफ० एल० ल्युकस ने सामने रखा है । उसने प्राणिविज्ञान का हवाला देते हुए लिखा है कि विज्ञान का सम्बन्ध नेत्र तथा तर्कणा (रीजनिंग) से है परंतु कविता हृदय के निकट स्मृति और भावना से अपने शरीर का निर्माण करती है । यही कारण है कि आलोचना विज्ञान नहीं हो सकती ।[३]

विंचेस्टर ने साहित्यालोचन की वैज्ञानिकता के बाधक तत्त्वों पर विचार करते हुए चार बातें कही हैं[४]—(१) साहित्य के सम्बंध में पाया जानेवाला रुचि-वैभिन्न्य आलोचना के क्षेत्र को सीमित करता है, किंतु रुचि-वैभिन्न्य उतना व्यापक नहीं होता जितना कि कहा जाता हैं बल्कि सत्य तो यह है कि एकमत्य की अपेक्षा वैमत्य बहुत ही कम होता है । यदि ऐसी बात नहीं होती तो स्थायी साहित्य होता ही नहीं । (२) यही नहीं, असहमतियाँ अंतरनिष्ठ गहरी सहमतियों के कारण पूर्णतया सुसंगत होती है । (३) आलोचकों के निर्णय में जो अंतर पाया जाता है उसका कारण है कि भिन्न-भिन्न आलोचक भिन्न-भिन्न विशिष्टताओं पर बल देते हैं । इस प्रकार आलोचकों का पारस्परिक वैमत्य निस्सार है । (४) आलोचना के सिद्धांत रचना के नियम नहीं हैं । वे रचनाकार के लिए न होकर प्रमाता के लिए होते हैं ।

विंचेस्टर ने जो सफाई दी है उससे डेविड लॉज और जॉन बक्स्टन की आपत्तियों का उत्तर मिल ही जाता है, ध्यातव्य है कि काव्यभाषा के विषय में ऐसा रुचि वैभिन्न्य कदाचित् ही मिलता है । अब बच जाता है ल्युकस जिसके विचारों से साहित्यालोचन की वैज्ञानिकता को कोई आघात नहीं पहुंचता है । ल्युकस ने प्राणिविज्ञान की तुलना में साहित्य को देखा है जो उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि केवल प्राणिविज्ञान ही विज्ञान नहीं है, अन्य प्रकार के भी बहुत से विज्ञान हैं । ल्युकस के विचार की दूसरी दुर्बलता यह है कि उसने साहित्य और साहित्यालोचन को मिला दिया है । विज्ञान अध्ययन की एक पद्धति है न कि कोई वस्तु । संसार में पाये जाने वाले असंख्य प्राणी विज्ञान नहीं हैं, उनका अध्ययन विज्ञान है । इसी प्रकार साहित्य भले ही मस्तिष्क के स्थान पर हृदय में निवास करता हो, तर्क के बदले भावना से काम लेता हो, इस आधार पर उसकी आलोचना के विज्ञान होने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती । अतः साहित्यालोचन की वैज्ञानिकता तो संदेह से परे है ही । सच्चा साहित्यालोचन यदि काव्यभाषा का विश्लेषण है तो उसके सम्बंध में वे आपत्तियाँ खड़ी भी नहीं होतीं जो साहित्यालोचन के सम्बंध में खड़ी की जाती हैं । निष्कर्षतः, काव्यभाषा का अध्ययन वैज्ञानिक अध्ययन है और उसके लिए काव्यभाषा-विज्ञान नाम उपयुक्त है ।

—: ९ :—

---

१. उपरिवत् ।
२. जॉन बक्टस्न, "इंट्रोडक्शन", **फार्म ऐन्ड स्टाइल इन पोयट्री** डब्लू पी० केर (लंदन, १९६६), पृ० ७ ।
३. एफ एल० ल्युकस, **दि डिक्लाइन ऐन्ड फॉल ऑव दि रोमांटिक आइडियल** (कैम्ब्रिज, १९५४), पृ० २०८ ।
४. विंचेस्टर, **सम प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेचर** (न्यूयार्क, १९५०) पृ० १९-३२ ।

डा० उमा पाठक
हिन्दी-विभाग, दौलतराम कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७

प्रगतिवादी काव्य के बिम्ब

छायावादी काव्य-विषय की अतिशय काल्पनिकता तथा अभिव्यक्ति की अत्यधिक लाक्षणिकता की प्रतिक्रिया से सन् १९३६ में जिस नवीन काव्यधारा ने जन्म लिया उसे प्रगतिवाद के नाम से स्वीकार किया गया। सामाजिक जीवन की विषमता से प्रेरित यह काव्य न केवल भारत में ग्रहण किया गया, वरन् इसका प्रचलन अन्तर्राष्ट्रीय रहा। इसका सैद्धान्तिक प्रचार रूस से माना जाता है, जहाँ यह मार्क्सवाद के रूप में जाना गया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधृत मार्क्सवादी सिद्धान्तों का ही साहित्यिक रूप प्रगतिवाद के रूप में लिया गया।

साहित्य में नया युग विषय तथा अभिव्यक्ति की नवीनता लेकर आता है। यह नवीनता प्रगतिवाद में लक्षित की जा सकती है। इन्होंने वर्गवैषम्य, तत्कालीन समस्याओं, असुन्दर तथा उपेक्षितों को ग्रहण किया है। आलम्बन बदलने के साथ ही अभिव्यक्ति बदल गई है। सामाजिक यथार्थ दृष्टि से प्रेरित होने के कारण इन कवियों ने भाव की अपेक्षा शिल्प को गौण स्थान दिया है। इस धारा के प्रमुख कवि ये हैं—नागार्जुन,[1] केदारनाथ,[2] रामविलास शर्मा,[3] शिवमंगल सिंह,[4] तथा न रांगेय राघव।[1] 'अब हिन्दी की कविता न रस की प्यासी है, अलंकार की इच्छुक है और न संगीत की पदावली की भूखी है। भगवान अब उसके लिए व्यर्थ है - अब-वह चाहती है, किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी।'[2] अतः भावों और विचारों की अधिकता है, कला पक्ष का महत्व कम है। कल्पना की अतिशयता की अपेक्षा मानवीय संवेदना अधिक है। अब देखना यह है कि मानवीय संवेदना के आधार पर अंकित इनके बिम्ब कहाँ तक भाव को तीव्रता तथा नवीनता से संयुक्त कर पाए हैं। यूं तो बिम्ब-बिम्ब का वर्ग-भेद अत्यन्त कठिन है फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हम बिम्ब के तीन भेद मानकर चलेंगे—रूप बिम्ब, भाव बिम्ब तथा क्रिया बिम्ब।

रूप-बिम्ब के अन्तर्गत चाक्षुष-प्रतिमूर्ति उपस्थित करने वाले बिम्ब लिए हैं। यहाँ चाक्षुष से तात्पर्य केवल चक्षु-रेन्द्रिय से न होकर सभी इन्द्रियों से सम्बद्ध चित्रों से है। भाव-बिम्ब मानसिक प्रतिरूप उपस्थित करते हैं। अर्थात् किसी भाव का मूर्तिकरण अथवा केवल मूर्त का ही मूर्त उपमानों के आधार पर चित्रण आदि। क्रिया-बिम्ब में बाह्य तथा आन्तरिक गति का चित्रण रहता है। ये बिम्ब मानसिक द्वन्द्व आदि सभी को प्रतिबिम्बित करते हैं। सबसे पहले रूप-बिम्ब को लेंगे।

रूप-बिम्ब

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसके अन्तर्गत सभी

---

१. नागार्जुन—युगधारा, सतरंगे पंखोंवाली तथा प्यासी पथराई आँखें
२. केदारनाथ-नींद के बादल, युग की गंगा, जेक और आलोग, फूल नहीं रंग बोलते हैं।
३. रामविलास शर्मा-रूपतरंग
४. सुमन—हिल्लोल, जीवन के गान, प्रलय सृजन, पर आखें नहीं भरी. विश्वास-बढ़ता ही गया, तथा विन्ध्य हिमालय।

१. रांगेय राघव—राह के दीपक, पिघलते पत्थर, मेधावी, पांचाली
२. केदार नाथ अग्रवाल, युग की गंगा (प्राक्कथन), पृ० ८ ग

इन्द्रियों से सम्बद्ध वे चित्र आयेंगे जिनमें कवि ने प्रकृति तथा मानव प्रकृति को चित्रित किया है। रूप-बिम्बों में दृश्य पर बल है। प्रकृति का उल्लास कवि के मन को स्फूर्तिदायक लगता है —

यह कपूरी धूप
शिशिर की यह दुपहरी, यह प्रकृति का उल्लास
रोम-रोम बुझा लेगा, ताज़गी की प्यास।[१]

केदारनाथ अग्रवाल ने धूप का सर्वथा नवीन चित्रण किया है —

धूप पिए, पानी लेटा है सीना खोले
नौजवान बेटा है युग के श्रमजीवी का।[२]

इन कवियों ने सन्ध्या का अंकन अधिक किया है। रामविलास शर्मा का एक चित्र प्रस्तुत है—

ढल आया और क्षितिज के पास मंद सूरज
छा गाई ताल के वृक्षों पर सोने की रज।[३]

जहाँ एक ओर उपर्युक्त चित्र संध्या के दृश्य को पूर्ण करता है, वहीं दूसरी ओर रात्रि का चित्र विकलता का अंकन करता है—

गहन कालिमा के पट ओढ़े
विकल-विकल सी रात सो रही
दूर क्षीण तारों में कोई
टिमटिम करती बात हो रही।[४]

वही चाँद जो सदा कवियों के लिए प्रेरणा का आधार था इन कवियों को विवश तथा ऊंघता-सा लगता है—

काली सप्तमी का चाँद,
पावस की नमी का चांद।
तिक्त स्मृतियों का विकृत विष वाष्प कैसे सूंघता है चाँद
जागता था, विवश था, अब ऊंघता है चाँद।[५]

१. नागार्जुन; सतरंगे पंखोंवाली; पृ० ३३
२. केदारनाथ अग्रवाल; फूल नहीं रंग बोलते हैं; पृ०१७६
३. डा० रामविलास शर्मा, रूपतरंग, पृ० ६४
४. रांगेय राघव; मेधावी, पृ० २४०
५. नागार्जुन; प्यासी पथराई आंखें, पृ० ४१

कहीं-कहीं प्रकृति का उद्दीपन रूप में भी चित्रण किया गया है—

सांध्य गर्भ में पश्चिमास्त समान
लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता है सुमुखि उस काल
याद आता तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल।[१]

इन कवियों ने केवल दृश्य का ही नहीं, वरन् स्पर्श का भी अंकन किया है। केदारनाथ अग्रवाल ने इस क्षेत्र में नवीनता का परिचय दिया है —

दीप की लौ-से
गरम दिन।[२]

नीम के फूल कवि को दुख हरनेवाले प्रतीत होते हैं।

नीम के फूल
दूध की फुटकियों-से झरे
मुलायम-मुलायम
कठोर भूमि पर बिखरे,
जैसे कोई
प्यार से शरीर स्पर्श करे,
दुखों से तनी हुई
नसों की थकान हरे।[३]

सुमन में भी एकाध स्थल पर स्पर्श के संकेत मिल जाते हैं —

आज रात भर बरसे बादल
अमराई अकुलाई, सिहरी नीम
हंस पड़े चल दल।[४]

कुछ स्थलों पर ध्वनि की बिम्बात्मकता व्यक्त हुई है—

सागर लंबी सासें भरता है
सिर धुनती है लहर-लहर

१. नागार्जुन-सतरंगे पंखोंवाली, पृ० ४८
२. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं; पृ० ५७।
३. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं; पृ० १०६
४. शिवमंगल सिंह 'सुमन'; पर आंखें नहीं भरीं, पृ० २५

बूंदी-बादर में एक वही स्वर
गूंज रहा है हहर-हहर ।[१]

पहली तीन पंक्तियों में दुःख के वातावरण की सृष्टि होती है। अंतिम पंक्ति में हहर-हहर के प्रयोग द्वारा हाहाकार ध्वनित हो उठता है।

रांगेय राघव ने अन्धकार में तेज़ चलती हवा से लड़खड़ाते पत्रों की आवाज़ में अतृप्त प्रेत की कल्पना की है—

सन् समीरण तड़पता सा
भागता उन्मत्त
लड़खड़ाते पात तम में
प्रेत से अतृप्त ।[२]

इस धारा के कवियों में एकमात्र केदारनाथ अग्रवाल ऐसे कवि हैं, जिन्होंने स्पर्श, गति, वर्ण आदि का मिश्रित अंकन किया है—

धीरे से पांव धरा धरती पर किरनों ने,
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुओं का ।
छोटा-सा गांव हुआ केसर की क्यारी-सा,
कच्चे घर डूब गये कंचन के पानी में ।[३]

इन पंक्तियों में भोर का सम्पूर्ण दृश्य मूर्त हो उठता है।

प्रगतिवादी कवियों ने प्रकृति के अतिरिक्त मानव से भी प्रेरणा ली है। स्पष्ट स्वीकृति है कि—

जबकि पक्षी की व्यथा से आदि कवि का व्यथित-अंतर
प्रेरणा कैसे न दे कवि को मनुज-कंकाल-जर्जर ।[४]

दीनता तथा दरिद्रता का चित्रण नागार्जुन ने स्थान-स्थन पर किया है। ठंड से गठरी बने व्यक्ति का चित्र सम्पूर्ण दृश्य को मूर्त कर देता है—

गठरी बना गई
माघ की ठिठुरन
अद्भुत यह सर्वांग आसन
हिली डुली
जो देखो हिली डुली गठरी
दे गया दिखाई झबरा माथा ।[१]

ग्रामीण जीवन के दुःख दैन्य को रामविलास शर्मा इस प्रकार मूर्त करते हैं—

छोटा सा सूरज सिर पर बैसाख का,
काले धब्बे से बिखरे वे खेत में
फटे अंगौछों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीता चमार है बीनते ।[२]

ऐसा ही एक और चित्र शिवमंगल सिंह सुमन ने प्रस्तुत किया है—

धकधकाती धरणि थर-थर
उगलता अंगार अंबर
भुन रहे तलुवे तपस्वी-सा
खड़ा वह आज तन कर ।[३]

'कलकत्ते का अकाल', 'हाय नहीं यह देखा जाता' जैसी कविताओं में अकाल पीड़ितों के मर्मान्तक चित्र हैं—

हत्त भूखा मानव बैठा
गोबर से दाने बीन रहा है
और झपट कुत्ते के मुंह से
जूठी रोटी छीन रहा है
सांस न बाहर भीतर जाती
और कलेजा मुंह को आता ।[४]

---

१. रामविलास शर्मा; रूपतरंग, पृ० १४
२. रांगेय राघव; राह के दीपक; पृ० ७
३. केदारनाथ अग्रवाल; फूल नहीं रंग बोलते हैं; पृ० ३३
४. सुमन; विश्वास बढ़ता ही गया, पृ० ८

---

१. नागार्जुन; सतरंगे पंखोंवाली, पृ० २२
२. रामविलास, रूपतरंग, पृ० ८
३. शिवमंगल सिंह, प्रलय सृजन, पृ०२१
४. सुमन, जीवन के गान, पृ० ११६

नागार्जुन ने व्यक्ति का सामान्य चित्र न खींचकर अंग-विशेष के चित्रण द्वारा दीनता तथा वैषम्य को उभारा है। प्रस्तुत है—

प्यासी पथराई उदास आंखें
थकीं, बेआसरा, निराश आंखें
छलक रहा है युगों का अभिशाप
बुझी बुझी निगाहों में
घुटनों पे टिकी है ठोड़ी।[1]

इसी प्रकार मेहनती मजदूर के खुरदुरे पैरों का कवि ने अत्यन्त मार्मिक ढंग से वर्णन किया है—

खुब गये दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयों वाले खुरदुरे पैर
+ + +
एक नहीं, दो नहीं, तीन तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को,
नाप रहे थे धरती का अनहद फ़ासला
घंटों के हिसाब से ढोये जा रहे थे।[2]

'दूधिया निगाह' तथा 'फटी बिवाई वाले पैर' दो विरोधी तत्वों का अंकन बिम्ब को पूर्णतः मूर्त कर देता है।

नागार्जुन की यह विशेषता है कि वे दो विरोधी स्थितियों या तत्वों को एक साथ रखकर चित्रण करते हैं। फलस्वरूप चित्र में अधिक सजीवता और साथ ही स्थिति के अनुरूप कटुता आ जाती है। उनके द्वारा अंकित एक और चित्र देखिए—

मोतिया दंतपंक्तियों के अंदर
कांपती रही क्षोभ के मारे जीभ
निकल आई बासी भाव ताज़ा सौरभ के बदले
अर्धस्फुट कमल की पंखुड़ियों को क्या हो गया था जाने।[3]

नागार्जुन की निरीक्षण शक्ति इतनी सूक्ष्म है कि वे कुछ ही पंक्तियों में सम्पूर्ण परिवेश को प्रस्तुत कर देते हैं ...

ऊपर देखते हैं बाल्टियों के ढेर
पितरों की प्यासी रूहें।
अंगूठा चूसती है नवजात बच्ची
खिड़की से लटका दिया गया है लाल खिलौना।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में दरिद्रता, स्थानाभाव आदि से युक्त गृहस्थी का रूप सजीव हो उठता है।

प्रगतिवादी कवियों के लिए नारी सर्वथा त्याज्य नहीं रही है। यह अवश्य है कि इन कवियों की दृष्टि ग्रामीण सरल बालाओं की ओर अधिक गई है—

लहंगा समेटे गांठ तक
पहने गिलट के गुड़तरे
खुरपी लिए, खंचिया लिए
अनुराग अंचल में भरे
छूकर कृषक सुकुमारियों को विधुर विस्मित वात था
कैसा मधुर सुप्रभात था।[2]

यथार्थवादी युग में सौन्दर्य का स्थान असौन्दर्य ने ले लिया। कवि ने इसी में जीवन का विकास खोजने की चेष्टा की है—

बैठे गालों से स्वर बहता
गंदे तन से झरना चलता
ऊँचा लहंगा, ओछी अंगिया
जिससे आधा उर निकल रहा।[3]

नागार्जुन के काव्य में कोमलता के स्थान पर कटुता अधिक है, नारी के रूप के आकर्षण से अधिक वितृष्णा है। 'जयति नखरंजनी' में कवि ने आज की युवतियों पर कटु व्यंग्य किया है। मतदान के समय का एक चित्र है—

हाय, इतने सुंदर हाथ ले जायेंगे दागी।
भड़क उठा परिमार्जित रुचि बोध—
छिः कौन लगवाये काला निशान।

---

१. नागार्जुन, प्यासी पथराई आंखें, पृ० २८
२. नागार्जुन; सतरंगे पंखोंवाली; पृ० २१
३. नागार्जुन; सतरंगेपंखों वाली; पृ० १६

१. नागार्जुन; प्यासी पथराई आंख; पृ० १८
२. सुमन; जीवन के गान; पृ० २१
३. रांगेय राघव; राह के दीपक; पृ० ६४

बात की ज़रा सी बात काले निशान की
तीन वोट रह गए फैशन के नाम पर ।[1]

किन्तु सर्वत्र सौन्दर्य की अवहेलना वही है । रांगेय राघव ने पांचाली का जो चित्र अंकित किया है वह सौन्दर्य के साथ गरिमा का भी चित्रण करता है—

वो निर्मल आंखें नमित पलक में शोभित
ज्यों श्वेत कमल पर भ्रमराली झुक आई ।[2]

इन कवियों में शिवमंगल सिंह सुमन ने व्यक्तिगत प्रेम को भी लिया है । किन्तु ये कविताएं किसी के रूप को मूर्त नहीं करतीं । इनमें प्रायः प्रेमजन्य व्यथा तथा असफल प्रेम का चित्रण ही अधिक है । उदाहरण के लिए—

कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो,
आंखें सजल विनत सहमी सी
खोई-खोई दृष्टि दूर की
भूला- भूला सा अपनापन ।[3]

कभी-कभी कवि प्रेम से एक नयी स्फूर्ति भी पाते हैं—

सांसों पर अवलंबित काया जब चलते-चलते चूर हुई
दो स्नेह-शब्द मिल गये, मिली नव स्फूर्ति, थकावट दूर हुई ।[4]

नागार्जुन जैसे समाजवादी कवि ने भी कहीं-कहीं प्रकृति के माध्यम से प्रेमिका का स्मरण किया है—

सांध्य नभ में पश्चिमान्त समान
लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता है सुमुखि उस काल
याद आता तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल ।[5]

सम्पूर्ण अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रगतिवादी कवियों ने रूप-बिम्बों में प्रकृति तथा मानव दोनों को लिया है, किन्तु प्रकृति का अधिक चित्रण नहीं किया है । इसके अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण किसी विशेष भावाभिव्यक्ति का माध्यमनन होकर, सामान्य रूप से किया गया है । एकमात्र केदारनाथ ने ही प्रकृति के माध्यम से युग-परिवर्तन तथा प्रगति को सूचित किया है । मानव प्रकृति में कवि का आलंबन विशेषतः दुःखी तथा पीड़ित वर्ग है । इन कवियों ने वर्ग विषमता को उभारा है । उच्च वर्ग के प्रति तीव्र कटुता का भाव स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है । साथ ही असौन्दर्य में सौन्दर्य खोजने की चेष्टा की है । कुछ स्थानों पर कवि ने समाज से हट कर व्यक्तिगत स्तर पर भी सोचा है । किन्तु व्यक्तिगत प्रेम के क्षेत्र में वे किसी रूप विशेष को चित्रित न करके केवल स्थिति-विशेष का वर्णन करते हैं ।

रूप-बिम्ब के प्रमुखतः पांच भेदों (दृश्य, स्पर्श, ध्वनि, रस, गंध) में से प्रगतिवादी कवियों ने मुख्यतः दृश्य को लिया है । स्पर्श तथा ध्वनि के भी कुछ संकेत मिल जाते हैं ।

प्रायः कवि बिम्ब-निर्माण के लिए अप्रस्तुत योजना का आधार लेते रहे हैं । किन्तु प्रगतिवादी कवियों का इष्ट सामाजिक वैषम्य को उभारना, एक नई चेतना को जन्म देना रहा है, इसलिए उन्होंने काव्य में यथार्थ चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया । अप्रस्तुत का आधार नहीं लेने पर भी इनके कुछ वर्णनों में अत्यन्त भाव-प्रवणता, तीव्रता तथा समृद्धि है क्योंकि इनके वर्णन यथार्थ पर आधृत हैं । निम्न वर्ग की करुणा मन को प्रभावित कर देती है । जहां उपमान लिए भी हैं, वहां भी व्यावहारिक जीवन से उदाहरण के लिए— गर्म दिन, लौ से ; प्रेमपूर्ण स्पर्श, नीम के फूल, बिजली गूंज, सींवन का चटकना, श्रमजीवी का बेटा धूप ।

भाव बिम्ब

प्रगतिवादी कवियों में भाव बिम्बों की संख्या बहुत कम है । इनके अन्तर्गत उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि के द्वारा एक ओर तो दिन, रात आदि का मूर्तिकरण किया गया है, दूसरी ओर मन के क्षोभ, आक्रोश आदि को चित्रात्मकता प्रदान की गई है ।

---

१. नागार्जुन; सतरंगे पंखोंवाली; पृ० ३५
२. रांगेय राघव, पांचाली; पृ० २६
३. सुमन; पर आंखें नहीं भरीं; पृ० ३४
४. सुमन; प्रलय सृजन; पृ० ४५
५. नागार्जुन; सतरंगे पंखोंवाली; पृ० ४८

केदारनाथ अग्रवाल ने 'दिवस' के लिए विभिन्न उपमानों का चयन इस प्रकार किया है—उदास दिन जैसे पैंशन पाया चपरासी अथवा जुए में हारा व्यक्ति, लम्बा दिन ऐसा निरर्थक लगता है जैसे मौन पक्षी। बीता दिन ऐसा जैसे झरा हुआ फूल।

दिन है कि
चरने गयी गाय का
सफ़ेद बछड़ा
मां की प्रतीक्षा में बैठा है।[१]

इसी प्रकार रात्रि का भी अनेक रूपों में चित्रण किया गया है। रांगेय राघव ने रात को कर्मठा नारी के समान माना है। कोयले की खान की मज़दूरनी कहकर वर्णसाम्य प्रस्तुत किया है।

कोयले की खान की
मज़दूरनी-सी रात
बोझ ढोती तिमिर का
विश्रान्त सी अवदात।[२]

सुमन रात को काली मसहरी के समान कहते हैं। 'दिन' तथा 'रात' के अतिरिक्त इस युग के कवियों ने प्रकृति के अन्य मूर्त रूपों को भी मूर्त उपमानों के सहारे चित्रित किया है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण केदारनाथ अग्रवाल में मिलता है—

एक बीते के बराबर
यह हरा ढिगना चना
बांध मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है।[३]

कहीं-कहीं मूर्त का मूर्तिकरण प्रगतिवादी प्रभाव को व्यक्त करता है। जैसे—

लाखों की अगणित संख्या में
ऊंचा गेहूँ डटा खड़ा है
ताकत से मुट्ठी बांधे
नोकीले भाले ताने है
हिम्मत वाली लाल फौज सा,
मर मिटने को झूम रहा है।

ऐसा ही एक और उदाहरण है—

यह हंसिए-सा चांद
धार तो दिखती है
बिना बेंट के
काट करेगा पर कैसे ?[१]

चांद के लिए यह उपमान सर्वथा नवीन है और साथ ही प्रगतिवादी प्रभाव को व्यक्त करता है। 'बिना बेंट के हंसिए' के समान चांद को निरर्थक माना है।

इसी प्रकार सांस्कृतिक प्रतीकों के आधार पर भी कवियों ने सुन्दर भावाभिव्यक्ति की है। प्रतिशोध की अग्नि में जलती पांचाली को रक्त की प्यासी तलवार के रूप में अंकित किया है—

पांचाल देश की कठिन म्यान में से जो
निकली कृष्णा तलवार बनी चमकीली
वह झपझप-झपझप करती उठी हुई है,
अब उसे लग रही फास तप्त लोह की।[२]

भाव-बिम्बों में अमूर्त का मूर्तिकरण मुख्यतः रांगेय राघव ने किया है। मन के क्षोभ, चिन्ता, स्मृति, जीवन-शक्ति आदि का यथार्थ जीवन से गृहीत उपमानों के आधार पर सुन्दर चित्रण किया है। जीवन-शक्ति अपराजेय है—

गहन दूर्वादल में ज्यों हिल्लोल
चमकती रवि किरणों से दीप्त
सघन केशों में ज्यों वह मांग
दमकती है सुहाग से स्फीत

---

१. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ० १७७
२. रांगेय राघव; राह के दीपक; पृ० ७१
३. केदारनाथ अग्रवाल; युग की गंगा; पृ० ९

१. सुमन; विन्ध्य हिमालय; पृ० ११
२. रांगेय राघव; मेधावी; पृ० २

आज अपराजित जीवन शक्ति
जाग उठ भर कर जीवन गीत।[1]

मछेरे, जाल और मछलियों के आधार पर कवि ने मन, भाव और स्मृतियों का चित्रण किया है। चिन्ता सागर के समान है—

चिन्ता समुद्र में भावजाल गिरता था
मन का धींवर खींचता उसे बाहर को,
आती कोई मछली-स्मृतियों की उसमें
अपने अतीत से बिछुड़ तलफती व्याकुल
तब दुखियारी आशा उसको जल में ही
फिर देती फेंक कि घोड़ा यह चंचल है।[2]

यह बिम्ब प्रतीकात्मक रूप से अवचेतन की स्थिति को प्रकट करता है। व्यक्ति का अवचेतन सागर के समान अथाह होता है, जिसमें नाना स्मृतियों आदि के बिम्ब मछली के समान रहते हैं।

कवि ने दासता की शृंखला में जकड़े भारत के विक्षोभ से उद्भूत नई जागृति का चित्रण इस प्रकार किया है—

हो गई भोर उस दिन
और करवट बदलकर
था उठ गया इतिहास,
राह के अंध तिमिर से
उड़ गये थे श्वास, उमड़ता था सिंधु-सा
इस हिंद का विक्षोभ।[3]
—यहां भोर का प्रतीकात्मक प्रयोग है।

रांगेय राघव ने व्यक्ति के क्षोभ को बंदी सर्प के समान बताकर भीषणता को मूर्त किया है। अगली पंक्तियों में उसे महासागर-सा कहकर उसके वेग की भयानकता को मूर्त किया है—

जल रहा हृदय, अवरुद्ध सर्प
सा पटक रहा, फन वह गंभीर

१. रांगेय राघव; मेधावी पृ० २
२. रांगेय राघव; पांचाली, पृ० २४
३ ,, ; पिघलते पत्थर; पृ० ११

उस महा सिंधु-सा गरज रहा
फिर भी है अपराजित प्रवीर।[1]

शिवमंगलसिंह सुमन ने मन को मूर्तता प्रदान करने की चेष्टा की है, पर उनके उपमान कोमल तथा सरल हैं—

मन भी बड़ी विचित्र वस्तु है
कभी पहुँच के बाहर हो जाती
लहराती,
उन्मन उड़ीना पतंग की
छिन्न डोर-सी
और हाथ में रह जाती है उलझी गुत्थी।[2]

रांगेय राघव ने चंचल मन को नीड़ के लिए आकुल होते पक्षी के समान कहा है—

संध्या की भीगी किरनों में
अलस विहग ज्यों नीड़ाकुल से
पंख चलाते लौटा करते
वैसे मेरा मन चंचल रे।[3]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कवियों ने पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा भाव-बिम्ब बहुत कम दिए हैं। इन कवियों ने अधिकतर मूर्त का ही चित्रण किया है। अमूर्त का मूर्तिकरण केवल एकाध कवि ने ही किया है। किन्तु फिर भी इतना अवश्य है कि जितने भी बिम्ब प्राप्त हैं, उनके आधार पर विषय और शैली के अन्तर को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है।

विषय की दृष्टि से इन कवियों ने भाव-बिम्बों में एक तो प्रकृति का चित्रण किया है, दूसरे बदलते मानदण्डों का, विषमता के फलस्वरूप मन के क्षोभ आदि का मूर्तिकरण किया है। विषय के अनुरूप अभिव्यक्ति भी नवीन है। कवियों ने उपमानों का ग्रहण दैनंदिन जीवन से किया है, जैसे - दिन– चरने गयी गाय का सफेद बछड़ा; रात— कोयले की खान में काम करने वाली मज़दूरनी; चांद—

१. रांगेय राघव; पिघलते पत्थर; पृ० ६६
२. सुमन; पर आंखें नहीं भरीं, पृ० ३४
३. रांगेय राघव; मेधावी, पृ० २१६

बिना बेंट के हंसिए-सा; तारे—चेचक के दाग़; रात-काली मसहरी-सी, आदि। कहीं-कहीं केवल उपमान नहीं, वरन् प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जैसे पांचाली - जीवनशक्ति रूप में, विभीषण-विभिन्न वादों के रूप में, लाल फौज-मार्क्सवाद के रूप में आदि। अतः कह सकते हैं कि बिम्ब संख्या कम होने पर भी सार्थक प्रयोग है।

प्रकृति के चित्रों में अधिकतर सामान्य प्रकृति चित्र हैं। कहीं-कहीं इन सामान्य चित्रों पर भी प्रगतिवादी प्रभाव दृष्टिगत होता है और कहीं प्रतीकात्मक प्रयोग।

क्रिया बिम्ब

क्रिया बिम्ब के अन्तर्गत प्रगतिवादी कवियों की प्रकृति के आधार पर कोमल गति का चित्रण हुआ है—

चढ़ा पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धर्म्म से फिर, चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा, किया कान में 'कू'
उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची।

कहीं-कहीं कार्यरता नारी का भी सम्पूर्ण चित्र अंकित किया है—

बीच खेत में सहसा उठकर
खड़ी हुई वह युवती सुन्दर,
लगा रही थी पानी झुककर,
सीधी करे कमर वह पल भर,
खड़ी हो गई सहसा उठकर,
घेरे उसे जहां दल के दल
उठते हैं कुहरे के बादल।[२]

जहां एक ओर गति के कोमल चित्र हैं, वहीं दूसरी ओर भीषण चित्र भी हैं। चित्र केवल ऊपरी अर्थ में नहीं, आन्तरिक रूप से भी द्वन्द्व का संकेत देते हैं—

तेज़ धार का कर्मठ पानी,
चट्टानों के ऊपर चढ़कर,
मार रहा है
घूंसे कसकर
तोड़ रहा है तट चट्टानी।[१]

पानी के द्वारा चट्टान तक का टूटना आन्तरिक शक्ति के आधार पर ही सम्भव है।

प्रकृति में भीषण गति के संकेत द्वारा कवि द्वन्द्व का संकेत देते हैं। उदाहरण देखिए—

सिंधु की लहरें स्फूर्ति विराट
लिए बहती है करती रोर
तुरंगों सी फेनिल मुखधार
कगारों को देती है तोड़।[२]

विरोधों को झेलती हुई जल की धारा वेग के कारण फेनिल हो उठती है। नवयुग को फेनिल कहकर कवि उसके वेग का संकेत देते हैं।

क्रिया बिम्ब के अन्तर्गत केवल बाह्य गति ही नहीं, आन्तरिक गति भी ली जायेगी। जैसाकि हम पहले भी देख चुके हैं, प्रगतिवाद प्रमुखतया सामाजिक विषमता के प्रति असन्तोष प्रकट करता है। दो वर्गों का द्वन्द्व इनमें सहज रूप से व्यक्त हुआ है—

चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन के दोने,
चहक रहे हैं अंदर ये लक्ष्मी के पुत्र सलोने।[३]

केदारनाथ अग्रवाल ने 'वरदान' में गर्भिणी माता की प्रार्थना द्वारा इसी विषमता से उद्भूत कटुता को भगवान के प्रति आक्रोश के रूप में प्रस्तुत किया है—

वैभव की विशाल छत्रछाया में
स्वर्ण सिंहासन पर
रक्खी देख मंदिरों में पत्थर की मूर्तियां,—
क्षुब्ध हो गर्भवती
ईश्वर से मांगती है वरदान।
केवल पाषाण हों
कोख की मेरी भी सन्तान।[४]

---

१. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं; पृ० २१
२. रामविलास शर्मा; रूपतरंग; पृ० ६३

१. केदारनाथ अग्रवाल; फूल नहीं रंग बोलते हैं; पृ० ९७
२. रांगेय राघव; मेधावी; पृ० १४१
३. नागार्जुन; प्यासी पथराई आंखें; पृ० ३४
४. केदारनाथ अग्रवाल; युग की गंगा; पृ० २२

जहां एक ओर कुछ कवियों ने केवल विषमता का चित्रण-भर किया है, वहीं दूसरी ओर अन्य कवियों ने नवागत युग-परिवर्तन को चित्रित किया है —

युग बढ़ा, दिए दो डग आगे
कांपी धरणी, सिहरा अंबर
उगले हिमगिरि ने अंगारे
उन्नत प्रासाद हुए खंडहर ।[1]

इन कवियों का विचार है कि यह विद्रोह की अग्नि न केवल पृथ्वी वरन् आकाश तक अपनी आग पहुँचा देगी—

शिशिर की ओसभरी ठंडी रात,
लाल हुआ लपटों से ।
अग्निविद्रोह की,
तोड़कर क्षमाशील पृथिवी के वक्ष को,
सहस्रों शिखा में, उठी है गगन में, सुवर्ण सिंहासन ओर ।[2]

आज की कुरूपता तथा निम्नता से ही नए जीवन का जन्म होगा । उदाहरण प्रस्तुत है—

निरपराधी गुलाम का रक्त
महासागर सा गरजे आज
कि अत्याचारी का लघु द्वीप
त्रस्त थर्राकर जाये कांप[3]

केदारनाथ अग्रवाल ने अकर्मण्य व्यक्तियों के प्रति व्यंग्य व्यक्त किया है—

झीनी बीनी खाट पर
रात दिन लेटा हुआ आदमी
एक हाथ नीचे की
उपजाऊ धरती को त्याग कर
स्वप्नों के महलों की
परियों के घाट की खोज में
चक्कर लगाता है निर्गुण आकाश के,
असफल हो घुलता है ।[4]

१. सुमन; प्रलय सृजन; पृ० १०
२. रामविलास शर्मा; रूपतरंग; पृ० १९
३. रांगेय राघव; पिघलते पत्थर; पृ० ८५
४. केदारनाथ अग्रवाल; युग की गंगा; पृ० २६

किन्तु सम्पूर्ण असन्तोष आदि के बीच भी भविष्य के प्रति आशापूर्ण आस्था है—

विषाक्त जलधि के हृदय में
फूट कर धीरे धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह
खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर
नव अरुणाभा में—नव सतयुग के प्रकाश में ।[1]

रांगेय राघव ने रूस के प्रति आस्था प्रकट की है—

आज जीवित रूस
गाता है विजय के गीत
मिट गये वह पाप,
वह तम के भयानक शाप,
दुःख के अचलायतन ।
पल रही उस हाथ की
मृदु छांह में नववेलि ।[2]

नागार्जुन ने भविष्य की आशा को अत्यन्त कोमल तथा मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है—

तुम किशोर
तुम तरुण
तुम्हारी अगवानी में
खुरच रहे हम राजपथों की काई फिसलन
खोद रहे जहरीली घासें
पगडंडियां निकाल रहे हैं ।[3]

अतः अन्य भेदों के समान यद्यपि क्रिया बिम्बों की संख्या भी कम है, तथापि बिम्ब भावाभिव्यक्ति में पूरी तरह सहायक बन कर आये हैं । जो साहित्य युगसत्य पर आधारित होता है, वह अपने काल में अपनी उस नवीनता, उपादेयता और भाव के सफल चित्रण के कारण अपनी महत्ता रखता है ।[4]

अब देखना यह है कि प्रगतिवादी कवियों का बिम्ब के क्षेत्र में क्या योगदान है । विषयवस्तु पर दृष्टि डालने

१. रामविलास शर्मा; रूपतरंग; पृ० २९
२. रांगेय राघव; पिघलते पत्थर; पृ० ४०
३. नागार्जुन; सतरंगे पंखों वाली; पृ० २८
४. रांगेय राघव; आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार; पृ० १२

से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने सामाजिक यथार्थ दृष्टि के आधार पर वर्गविषमता, समसामयिक चेतना, ईश्वर और धर्म के प्रति क्षोभ आदि को व्यक्त किया है। जहाँ आलम्बन प्रकृति अथवा नारी है वहां भी चित्रण का आधार यथासम्भव ग्रामीण तथा निम्न वर्ग को ही माना है। कहीं कहीं मार्क्सवादी सिद्धान्तों की प्रचारात्मकता भी मिलती है। अतः यह युग सिद्धान्त-कथन का युग है, जबकि बिम्ब कथन से यह खंडित हो जाता है। बिम्ब का सौन्दर्य संकेतात्मक उक्तियों में अधिक उभरताहै। सम्भवतः इसी लिए प्रगतिवादी कवियों में सभी प्रकार के बिम्बों की संख्या विरल है।

इसके अतिरिक्त बिम्ब किसी भी वस्तु का विशिष्ट अंकन करता है जबकि प्रगतिवादी कवि सामान्य पर बल देते हैं। इन कवियों का आक्रोश सम्पूर्ण शोषक सत्ता—समाज व्यवस्था आदि के प्रति है और सम्पूर्ण के विरोधी ...ये कवि कोई स्पष्ट रूप अंकित नहीं कर पाते। यह अवश्य है कि जहाँ चित्रण की पृष्ठभूमि में भाव की सच्चाई है वहाँ कथन सीधे सादे होने पर भी पाठक के मन को प्रभावित करते हैं।

इन कवियों के समक्ष एक और समस्या थी। मार्क्सवाद से प्रभावित ये कवि निम्न वर्ग के प्रति संवेदनशीलता लेकर तो चले किन्तु इनमें से बहुत कम कवि ऐसे थे जिन्होंने वस्तुतः निम्न वर्ग की पीड़ा तथा समस्याओं को समझा। इसका कारण यह था कि मार्क्सवाद की मूल भावना उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग के द्वन्द्व का चित्रण करती है। मध्य वर्ग इस द्वन्द्व का भोक्ता नहीं है, किन्तु लौकिक स्तर पर उसका कथन-भर करता है। अतः इन कवियों में भी निम्न वर्ग के प्रति बौद्धिक सहानुभूति है, इन्होंने उस पीड़ा को भोगा नहीं है। एकमात्र नागार्जुन ऐसे कवि हैं जिन्हें जनजीवन का कवि कहा जा सकता है। इनके काव्य में जनजीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुए हैं। इनके व्यंग्य अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं क्योंकि ये सम्पूर्ण वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। केदारनाथ अग्रवाल तथा रांगेय राघव में यह द्वन्द्व कहीं कहीं अत्यन्त सार्थकता से प्रकट हुआ है। अन्य कवियों में तो मात्र कथन मिलता है। अतः कह सकते हैं कि इन कवियों के बिम्ब सर्वत्र भाव को तीव्रता प्रदान नहीं करते।

बिम्ब की नवीनता अवश्य इनमें उपलब्ध होती है। इन कवियों ने सर्वथा नवीन उपमानों का चयन किया है। अधिकतर बिम्बों में दैनंदिन जीवन से गृहीत उपमान लिए हैं।

बिम्ब की समृद्धि वहाँ प्रमाणित होती है जहाँ वह एक ही स्थान पर कई अर्थ पटलों को खोल देता है। प्रगतिवादी कवियों से इसकी अपेक्षा ही व्यर्थ है, क्योंकि वे सीधे कथन में अधिक विश्वास करते हैं। उनकी भाषा अभिधात्मक है और इन कवियों ने अपने को सायास समाज तक ही सीमित रखने की चेष्टा की है। अतः इनके काव्य में छोटे-छोटे चित्र बनते हैं। वे भी कहीं-कहीं खंडित हो जाते हैं। संश्लिष्ट बिम्बों का सर्वथा अभाव है।

अतः कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रगितवादी काव्य अपने युग की बदलती स्थिति का पूर्ण परिचायक है तथापि बिम्ब की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं। छायावादी युग में ही बिम्ब को नये विकास की उपलब्धि हुई किन्तु इस युग में बिम्ब की दिशा में कोई विकास नहीं हुआ, सुन्दर पूर्ण बिम्बों की संख्या गिनी हुई है, अन्यत्र चित्रात्मक कथन हैं।

—: ० :—

सुन्दर लाल कथूरिया
हिन्दी विभाग,
आत्माराम सनातनधर्म कालेज,
धौला कुआँ, नई दिल्ली-२३

रस और ध्वनि : बलाबल का प्रश्न

ध्वनि-संप्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन हैं, यद्यपि इस सम्प्रदाय का जन्म उनके जन्म से पहले ही हो चुका था।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को जो काव्यात्मक स्वरूप प्रदान किया, उसका मूल उत्स सम्भवतः आचार्य वामन द्वारा उठाया गया काव्यात्मा का प्रश्न है। इस सम्प्रदाय को 'ध्वनि' संज्ञा की प्रेरणा अनुमानतः व्याकरण के 'स्फोटवाद' से मिली, किन्तु फिर भी व्याकरण की ध्वनि और काव्य की ध्वनि में भेद यह है कि व्याकरण की दृष्टि में प्रत्येक श्रूयमाण पद ध्वनि है जबकि काव्य में प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है।[2] ध्वनि सम्प्रदाय के उद्भव का विवेचन करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"अब तक जो सिद्धांत प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे, रस सिद्धांत भी ऐंद्रिय आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दों के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संगठन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था।

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।
—ध्वन्यालोक, १।१

२. काव्य-शास्त्र, प्रधान सं०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ८१-८२ (ध्वनि-सिद्धान्त-विमर्शः डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी)

ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।[1]

आनन्दवर्धन का ध्वनि-विषयक दृष्टिकोण

आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार 'चारुत्व के उत्कर्ष मूलक ही वाच्य और व्यंग्य का प्राधान्य विवक्षित होता है।[2] 'अर्थात्' वाच्य से अधिक उत्कर्षक-चारुताप्रतिपादक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।[3] 'आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या करते हुए लिखा है—"जहाँ अर्थ अपने को (स्व) अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनिकाव्य कहते हैं।"[4] 'तमर्थ' पद की व्याख्या आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में पहले ही अनेक स्थानों पर की है। वे लिखते हैं—प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिका आदि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही)

१. ध्वन्यालोक (भूमिका), पृ० ३७

२. चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा
—हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ० ४२

३. वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥
—साहित्यदर्पण, ४।१ उत्तरार्द्ध

४. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
—ध्वन्यालोक, १।१३

भासित होता है ।[1]

ध्वनि के मुख्यतः दो भेद हैं—(१) लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य), और (२) अभिधामूला (विवक्षितान्यपरवाच्य) ।[2] लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद हैं—अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि ।[3] अभिधामूला ध्वनि को भी असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम भेद से दो वर्गों में विभाजित किया गया है ।[4] इन भेदों के भी अनेक भेदोपभेद हैं । विस्तार में न जाकर यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि स्थूलतः ध्वनि को वस्तु-ध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि में विभाजित किया जाता है । ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि का पर्याप्त विस्तार कर दिया है । जैसा कि डा० नगेन्द्र का कहना है—'ध्वनि को उन्होंने (आनन्दवर्धन ने) इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था, वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे । इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं ।·········दूसरे गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि तत्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नहीं देते । अतएव ये सब ध्वन्यर्थ के सम्बन्ध से, उसी का उपकार करते हुए, अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं ।'[5]

आनन्दवर्धन का रस-विषयक दृष्टिकोण

आनन्दवर्धन का रस-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदार है । वस्तुतः ध्वनि के तीन भेदों—वस्तु, अलंकार और रस—में 'रसध्वनि' को उन्होंने सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है । यही कारण है कि विद्वद्वर्ग उन्हें केवल ध्वनिवादी नहीं मानता । कतिपय विद्वानों के अनुसार वे रसवादी और कुछ के विचार में रसध्वनिवादी[2] हैं । ध्वनिकार के मतानुसार यदि ध्वनि काव्य की आत्मा है तो रस ध्वनि की आत्मा है ।[3] इसके प्रमाण-स्वरूप ध्वनिकार का रसध्वनि-विषयक विवेचन अवलोकनीय है—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।।

अर्थात् रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण करना चाहिए) अक्रम (असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य) अंगीभाव से (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होता हुआ ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूप से स्थित होता है ।[4]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन रस को समादर भाव से ग्रहण करने के पक्ष में हैं ।

ध्वनि सम्प्रदाय की ओर से रस-सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप

ध्वनिसम्प्रदाय की ओर से रस-सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं । डा० सत्यदेव चौधरी ने "काव्य की आत्मा" का विवेचन करते हुए प्रकारान्तर से इन आक्षेपों को इस रूप में प्रस्तुत किया है ।[5]

१. ध्वनि तत्त्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है । यहाँ तक कि रस के उदाहरणों में भी इसी तत्व का अस्तित्व अनिवार्यतः अपेक्षित है । रस का चमत्कार व्यंग्यार्थ

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं,
विभाति लावण्यमिवांगनासु ।।
— ध्वन्यालोक, १।४

२. वही पृ० ५५

३. वही, पृ० ६९

४. वही, पृ० ७४

५. वही, (भूमिका), पृ० १५-१६

---

१. साहित्य-सन्देश, जून १९५२, पृ० ४६७-६९
(क्या आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते थे ? —लाल रमायदुपाल सिंह)

२. समालोचक, मार्च १९५९, पृ० ५
(साहित्य का मूल्यांकन: सिद्धेश्वर प्रसाद)

३. हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त, डा० सच्चिदानन्द चौधरी, पृ०१०६

४. ध्वन्यालोक,२।३

५. काव्यशास्त्रीय निबन्ध, पृ० १३६-३७

पर आधारित रहता है—रस वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद माना जाता है।

२. ध्वनितत्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है।

समाधान

प्रथम आक्षेप का अभिप्राय यही है कि 'रस' का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह ध्वनि का एक भेद है। किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि व्यंजना रस-निष्पत्ति का साधनमात्र है, काव्य का साध्य नहीं है। काव्य का साध्य रस है। ध्वनि वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ है और वह रसात्मक भी हो सकता है। रस व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं। किन्तु फिर भी रस का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही उचित है। व्यंजना और ध्वनि को न मानने वाले भी बहुत से रसवादी आचार्य हुए हैं। स्वयं भरत ने ही व्यंजना और ध्वनि को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया है। अतः ध्वनिवादियों का यह कथन ठीक होते हुए भी चिन्त्य है कि रस ध्वनि के अन्तर्गत है। ध्वनिवादियों के अनुसार रस के लिए ध्वनि अपरिहार्य है, रस ध्वनि में अन्तर्भुक्त है। परन्तु रस का महत्व उन्हें भी मानना पड़ा है—रस-ध्वनि को ही वे सर्वश्रेष्ठ काव्य कहते हैं। रस की उपेक्षा करने का या उसे एकदम गौण बना देने का साहस ध्वनिवादी भी नहीं कर सके हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि ध्वनि तत्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। ध्वनिवादियों ने ही गुणीभूत-व्यंग्य और शब्दचित्र तथा वाच्यचित्र की उपस्थिति में काव्य की सत्ता स्वीकार की है।

रस, अभिनव जैसे व्यंजनावादी आचार्यों के अनुसार भी, भावास्वाद, आस्वादात्मक स्थायी भाव, संवित्, संविद्विश्रान्ति अथवा आत्म-परामर्श है और इस रूप में यह ध्वनि का भेद या उसके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। शांकर वेदान्त के अनुयायी तो चैतन्य ब्रह्म आत्मा को ही रस कहते हैं। उनके दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए रस ध्वनि का भेद कैसे माना जाएगा? यों व्यंजना को शांकर अद्वैतवाद भी स्वीकार करता है।

ध्वनि, जैसा कि महिम भट्ट का कहना है, रस के अभाव में पहेली मात्र है। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि उक्तिवैचित्र्य या प्रहेलिका के निकट हैं, काव्य नहीं। ध्वनिवादियों के अनुसार भी ध्वनि काव्य की आत्मा है और रस ध्वनि की आत्मा है। अतः रस ही मूलतत्व है।

ध्वनि और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकती और रस ध्वनित हुए बिना केवल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। काव्य में ध्वनि को सरस रमणीय होना पड़ेगा और रस को व्यंग्य होना पड़ेगा।—अतएव दोनों की अनिवार्यता असंदिग्ध है परन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। विधि और तत्व दोनों का ही महत्व है, परन्तु फिर भी तत्व, तत्व ही है। रस और ध्वनि में तत्व पद का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर निश्चित है—रस। रस और ध्वनि दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण है, उसीके कारण ध्वनि में रमणीयता आती है।"[1] इसके लिए यह आवश्यक होगा कि रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाये।

ध्वनि केवल ध्वनिवादियों के अनुसार रस की अपेक्षा व्यापक तत्व हो सकता है। उनके अनुसार भी यदि ध्वनि रस की तुलना में महाविषय है तो व्यंग्यार्थ ध्वनि की तुलना में महाविषय है, क्योंकि उसके अन्तर्गत ध्वनि के साथ गुणीभूतव्यंग्य भी है। यदि आगे बढ़ें तो कह सकते हैं कि व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त अलंकार-शब्दचित्र और वाच्य-चित्र-भी ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य की विषयवस्तु है, क्योंकि वे इसे अधम काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि न तो ध्वनि तत्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है और न ही ध्वनि काव्य की एकमात्र सम्पत्ति है। ध्वनि के महाविषयत्व का आग्रह पहेली जैसी शब्द रचना को, अकाव्य को, काव्य संज्ञा देने के कारण किया जाता है। परन्तु विशुद्ध काव्य में आस्था रखनेवाला भावक भावस्पर्शविहीन रचना को काव्य नहीं मान सकता, उसमें ध्वनि का कितना ही चमत्कार क्यों न हो।

'रस' शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण कर लेने पर—

---

१. ध्वन्यालोक (भूमिका), पृ० ३२

काव्य-सौन्दर्य के रूप में रस को स्वीकार कर लेने पर—उक्त द्वितीय आक्षेप का पूर्णतः समाधान हो जाता है। इस स्थिति में मुक्तक आदि का रसात्मक काव्य में सहज ही समाहार हो जाता है। मुक्तक में रस के विभावादि अवयवों में से किसी एक या एकाधिक की उपस्थिति में ही शेष का आक्षेप हो जाने से रस-प्रतीति में बाधा नहीं पड़ती।

एक और दृष्टि से भी रस और ध्वनि के सापेक्षिक महत्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। रस सौन्दर्यानुभूति रूप है और ध्वनि कल्पना के निकट है। कवि की अनुभूति का सहृदय तक प्रेषण कल्पना के ही द्वारा सम्भव है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कल्पना और अनुभूति में अनुभूति अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वही काव्य का संवेद्य है। जैसाकि प्रसिद्ध आलोचक रिचर्ड्स का कथन है, प्रत्येक कविता मूलतः अनुभूति अथवा अनुभूतियों का एक वर्ग होती है।[1]

इस विवेचन के फलस्वरूप निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं

१. 'ध्वनि' भारतीय काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है और इसका फलक पर्याप्त विशाल है।

२. अधिकतर आचार्यों के अनुसार रस व्यंग्य है और यह मानना उचित है।

३. 'रस' और 'ध्वनि' परस्पर सम्बद्ध हैं। फिर भी रस की सत्ता स्वतन्त्र है। उसे ध्वनि में अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता।

४. 'ध्वनि, और 'रस' में रस का अधिक महत्व है, क्योंकि रस ही मूल तत्व है। वह ध्वनि रूप काव्यात्मा का भी आत्मा है।

५. 'रस' का सम्बन्ध अधिकांशतः अनुभूति के साथ है और 'ध्वनि' तथा 'व्यंजना' का कल्पना के साथ। कल्पना अनुभूति के सम्प्रेषण का आवश्यक माध्यम होते हुए भी काव्य का संवेद्य नहीं है। अतः 'रस' की महत्ता पर ध्वनिवाद की ओर से कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

६. व्यापक रूप में रस की परिधि ध्वनि से भी अधिक विस्तृत है। उस स्थिति में 'रस' कविता और सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा को अपने में समाहित कर लेता है। अतः ध्वनि की व्यापकता के आधार पर रस की महत्ता का निराकरण सम्भव नहीं है।

७. रस काव्य का मूल और अनिवार्य तत्व है। अतः वही काव्यात्मा पद का अधिकारी है।

—:०:—

---

१. '............इट इज़ दा ओनली वोर्केबल वे आफ डिफाइयनिंग ए पोयम, नेमली, एज़ ए क्लास आफ एक्सपीरिएंसेज़ ह्विच डू नाट डिफर इन ऐनी केरेक्टर मोर दैन ए सरटेन एमाउण्ट, वेरींग फार ईच केरेक्टर, फ्राम ए स्टैंडर्ड एक्सपीरिएंस. वी मे टेक एज़ दिस स्टैंडर्ड एक्सपीरिएंस दा रेलेवेंट एक्सपीरिएंस आफ दा पोयट ह्वेन कान्टेम्पलेटिंग दा कम्पलीटेड कम्पोजीशन।

—प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० २२६-२२७

जगदीश शर्मा
रीडर, हिन्दी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

कामायनी : पलायन का प्रश्न

कामायनी की मूल्य-दृष्टि के सामने सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न कथा की पलायनवादी परिणति का है। स्थूलतः यह आक्षेप इस रूप में लगाया गया है कि कामायनी का कवि जीवन-संघर्ष की चुनौती का सामना नहीं कर सका है और इसलिए उसने भयंकर संत्रास पूर्ण जीवन-संघर्ष का पर्यवसान अध्यात्म-चेतना में किया है जो एक सशक्त जीवन दृष्टिके अंत पर्यन्त निर्वाह में कवि की विफलता का सूचक है। कामायनी के कथानक को ऊपर से देखने पर लगता है कि अपनी उच्छृंखल प्रकृति से पीड़ित मनु बार-बार जमने के प्रयत्न में निरंतर उखड़ते रहते हैं और अन्ततः उनके पैर टिकते हैं तो विश्वप्रपंच से मुक्त कैलास पर जहाँ पहुंचकर वे जीवन की जटिलताओं से विरत हो जाते हैं। आलोचकों का विचार है कि उलझन से बचकर उस पर काबू पाना अर्थ-हीन है और इसी दृष्टि से कामायनी की अंतिम परिणति विसंगत है। जो मनु परिवार, राज्यतंत्र, औद्योगिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना में कहीं भी फिट नहीं हो सके उन्हें त्राण मिला कैलास पर अद्वैत की अनुभूति में ! इसे 'विज्ञान की चुनौती के सामने अद्वैत में पलायन', 'आधुनिकता से पलायन' तथा 'समस्या और समाधान की विसंगति, की संज्ञाएँ दी गई हैं।

इस प्रकार के आक्षेपों को समीक्षकों में समझ की कमी के बहाने टालने की अपेक्षा उन कारणों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जो इस प्रकार के विचारों के मूल में हैं। प्रमुख कारण यह है कि जो समीक्षक ऐसा कहते हैं वे कामायनी के सेण्टर ऑफ ग्रेविटी की खोज में कहीं भूल कर गये हैं। यह भूल दो प्रकार से हुई है : एक तो कामायनी में समाज-दर्शन की खोज को प्रधानता देकर, दूसरे उसे अन्तर जीवन का काव्य घोषित करके। एक ओर औद्योगिक क्रांति और वर्ग संघर्ष के प्रति 'प्रसाद' के रुख की तीखी आलोचना की गई है तो दूसरी ओर सर्गों के नामकरण के भीतर कामायनी की मनोवैज्ञानिकता को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। इन दोनों अतियों के बीच मनु का वह प्राणमय व्यक्तित्व समीक्षकों की दृष्टि से वंचित रहा है जो इस कथा की मूल समस्या का वाहक है।

यह समस्या है परिवेश के साथ उत्कट व्यक्तिवादी व्यक्ति के समायोजन —एडजस्टमेण्ट— की। श्रद्धा वह संतुलनकारी शक्ति है जो व्यक्ति-चेतना की इस उत्कटता के परिहार की कोशिश लगातार करती है। प्रसाद ने व्यक्ति और परिवेश के असामंजस्य और उसे दूर करने के प्रयत्नों को अनेक रूपों में अंकित किया है। प्रलय के प्रतीकत्व द्वारा सूचित **परिवेश की अनुकूलता उस असामंजस्य का एक स्तर है जबकि सर्वाधिपत्यमयी व्यक्ति-चेतना की उत्कटता और व्यवस्था की जटिलता क्रमशः उसके दूसरे और तीसरे स्तर हैं।** इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि **कामायनी में व्यवस्था का प्रश्न उक्त असामंजस्य का निमित्त मात्र है** और इसलिए उसे सेण्टर आफ ग्रेविटी मान लेना ठीक नहीं है। इसी प्रकार कामायनी की मनोवैज्ञानिक जटिलता को परिवेश और व्यक्ति के संबंधों से हटाकर सर्गों के शीर्षकों में उसका सरलीकरण समीक्षक की गैरजिम्मेदाराना मनोवृत्ति का परिचायक है।

कहा जा सकता है कि निमित्त रूप में ही सही, प्रसाद ने जब व्यवस्था की जटिलता का प्रश्न उठाया है, तब उस व्यवस्था में आहत मनु को कैलास पर पहुँचाकर संघर्ष से उपराम करने में क्या तुक है ? सारी जटिलताओं से मुक्त परिवेश में मनु की व्यक्ति-चेतना की समस्या को हल करने की सार्थकता क्या है ? अंततः कैलास पर पहुंचकर मनु का विश्रांति-लाभ क्या आधुनिक युग से पलायन नहीं है ? क्या कामायनी का अंत कवि के इस पलायनवादी अनुरोध के अनुरूप नहीं है :

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेमकथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

कामायनी में कैलास की निर्जनता में मनु को ले पहुंचने-वाली श्रद्धा स्वयं 'तुमुल कोलाहल कलह' में 'हृदय की बात' है। इसलिए कामायनी के अंत को परिवेश विमुख अंतर्मुखता में पलायन भी कहा जा सकता है। प्रसाद की कुछ अन्य रचनाओं की अंतिम परिणति भी इसी किस्म की है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के अंत में चाणक्य की विरक्ति और स्कंदगुप्त के अंत में 'जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा से' देवसेना की स्वेच्छया विदा में यही पालयन वादी स्वर गूंज रहा है : 'जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही नहीं चाहिए।' लगता है स्वयं 'प्रसाद' ने जीवन संग्राम में जो थकान अनुभव की थी और उससे विरक्ति की जिस भावना को बल मिला था उसका प्रक्षेपण 'नाविक' स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त और कामायनी में हुआ है। लेकिन यह कहना मात्र सतह को छूना होगा।

कुछ अधिक गहरे में उतरने के लिए प्रसाद की विचारधारा में प्रवेश करना आवश्यक है। 'काव्य-कला तथा अन्य निबंध' पुस्तक में प्रसाद ने आर्यों की दो शाखाओं का उल्लेख किया है जिनमें से एक इन्द्र की उपासक आत्मवादी या आनंदवादी शाखा थी और दूसरी वरुण की उपासक विवेकवादी या दुःखवादी थी। प्रसाद के शब्दों में "इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनंद की विचार-धारा उत्पन्न की "और" विवेक (तर्क) ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया, दुःख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया...... ।" कामायनी में जिस देवासुर संग्राम की चर्चा हुई है वह इन्हीं दोनों विचाराधाराओं का टकराव है और मूलतः वैचारिक संघर्ष है। देवजाति (आत्मवादी आर्य जाति) के संस्कारों से मुक्त मनु इड़ा (भौतिक बुद्धि) के राज्य में प्रवेश करने पर अपने भीतर इस द्वन्द्व की अनुभूति नये सिरे से करते हैं :

मुझ में ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता
हो प्रलयभीत तन-रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन—
सचमुच हूँ मैं श्रद्धा-विहीन !

इसलिए प्रसाद की कुछ रचनाओं के अंत में विरक्ति का जो संस्पर्श है उसे **आनंदवादी दृष्टि के भीतर विवेकवादी वैराग्यमूलक विचारधारा के अंतर्भाव** के रूप में भी देखना चाहिए।

यदि ऐसी बात है तो भी विवेकवादी विरक्ति-प्रेरक चेतना का अंतर्भाव कामायनी में स्वीकार करना ही होगा। सचमुच कामायनी उससे बची हुई नहीं है, लेकिन उसका संबंध कामायनी के अन्त से नहीं, सारस्वत प्रदेश से है। इसी प्रदेश में पहुँचने पर मनु को देवासुर-संग्राम की याद आती है जो 'जीवन का नव विचार' लेकर चला था और यहीं वे उस इड़ा को देखते हैं जिसमें 'नीरव थी प्राणों की पुकार'। सारस्वत प्रदेश की कथा संघर्ष, कलह, कोलाहल से भरी हुई है। वहाँ घोर भौतिकता जीवन की दुःखमय अनुभूति का कारण बन गई है। इड़ा 'मूर्तिमयी अभिशाप बनी-सी सम्मुख आयी'। वहीं मनु ने अनुभव किया-'जीवन में अभिशाप, शाप में ताप भरा है'। इसलिए **सारस्वत प्रदेश से मनु का पलायन उस विवेकवादी दुःखमूलक संस्कृति से पलायन है जिसे 'प्रसाद' ने वरुणोपासक विवेक-वादी आर्यजाति का वैशिष्ट्य बतलाया है। दूसरे शब्दों**

में यह ऐकांतिक भौतिक बुद्धिवाद से पलायन है। इड़ा जो जीवन की अंधानुरक्ति है, उसके शासन-क्षेत्र से मनु का पलायन उस जीवन-दृष्टि के त्रासद रूप से मुक्ति पाने की चेष्टा है जिसमें मनु ने घोर यंत्रणा का अनुभव किया था।

लेकिन यह न भूलना चाहिए कि **यह ग्लानि-प्रेरित पलायन भी कामायनी की अंतिम परिणति नहीं है,** उसके ठीक पहले की स्थिति है। **अंतिम स्थिति है भागे हुए मनु को अन्ततः श्रद्धा द्वारा पा लिया जाना और उन्हें अपने योग से जीवन की आनंद साधना के रहस्य से अवगत कराना**—इच्छा-क्रिया-ज्ञान की समरसता से आनंद की उपलब्धि का रहस्य समझाना। **यह पलायन या वैराग्य की निषेधात्मक जीवन-दृष्टि नहीं, कोई ऋणात्मक उपचार नहीं; बल्कि एक धनात्मक स्थापना है। श्रद्धा द्वारा मनु को कैलास पर ले जाना विश्वप्रपंच से मनु को अलग करना नहीं है, बल्कि वह उस मनःस्थिति का सूचक है जो विश्व सम्पृक्ति के विषैले अंश को दूर कर उसे आनंदमय बना देती है।** कामायनी में सारस्वत प्रदेश और कैलास भौगोलिक स्थान नहीं हैं। सारस्वत प्रदेश भौतिकताप्रधान दुःखमयी जीवन-दृष्टि का प्रतीक है और कैलास मानसिक उन्नयन का। **कैलास पर मनु का आरोहण जनसम्पर्क-शून्य और ऐकांतिक नहीं है,** सारा सारस्वत प्रदेश उनके पीछे-पीछे वहीं पहुँच जाता है। इसके द्वारा प्रसाद ने सूचित किया है कि **मनु या मन का ऊर्ध्वगमन व्यापक उन्नयन की भूमिका है।**

इस उन्नयन का जो रूप कामायनी में अंकित है उसे पलायनवादी कहना किसी भी प्रकार उचित प्रतीत नहीं होता क्यों कि वहाँ पहुँचने पर सारस्वत नगर निवासी जीवन की रिक्तता को भरने का अनुभव करते हैं :

सारस्वत नगर निवासी
हम आये यात्रा करने
यह व्यर्थ, रिक्त जीवन-घट
पीयूष-सलिल से भरने।

यह पीयूष-सलिल क्या है? यदि इस प्रश्न का निश्चित उत्तर दिया जा सके तो यह बात स्पष्ट हो सकती है कि कैलास पर मनु का पहुँचना विज्ञान से अद्वैत में पलायन नहीं है। जिस 'पीयूष-सलिल' की बात यहाँ कही गई है वह व्यापक अर्थ में 'प्रेम' नामक उस मूल्य का द्योतक है जो जीवन की कटुता का परिहार कर उसे आनंदमय बना देता है। इसलिए कैलास पर पहुँचने पर :

प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेम-ज्योति विमला से,
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से

प्रेम है तो अपनी ही एक कला, लेकिन जोड़ता है वह एक को दूसरे के साथ। अतएव इसकी सिद्धि भेदभाव को मिटाकर एकता या अभेद की स्थापना करने में है। कामायनी की अंतिम पंक्तियाँ इसी मूल्य-सिद्धि की सूचक हैं :

चेतनता एक विलसती
आनंद अखण्ड घना था।

कामायनी के दार्शनिक लहजे के कारण इस स्थिति को कोई अद्वैत का नाम देना चाहे तो दे सकता है, लेकिन यह अद्वैत में पलायन नहीं है क्योंकि जिस विज्ञान या आधुनिकता से पलायन की बात कही जाती है, उससे कट कर या उसे छोड़कर मनु इस अद्वैत अवस्था को प्राप्त नहीं करते, बल्कि उसके बीच ही अभेद या अद्वैत की अनुभूति उन्हें होती है। **अद्वैत की यह अनुभूति आत्मकेन्द्रित न होकर लोकोन्मुख है क्योंकि उसकी समस्या मायावरण से आवृत चित् तत्व की मुक्ति नहीं है, बल्कि विश्व को नीड़ बनाने की, 'संसृति के मधुर मिलन' की दिशा बतलाने की, और उस स्थिति को प्राप्त करने की है जहाँ 'कोई नहीं पराया' तथा जहाँ वैयक्तिक 'वैभिन्न्य के बावजूद प्राणिमात्र की मूलभूत एकता का ज्ञान होता है :**

चेतन समुद्र में जीवन लहरों सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना निर्मित आकार खड़ा है।
इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में बुद्बुद् सा रूप बनाये;
नक्षत्र दिखायी देते अपनी आभा चमकाये।
वैसे अभेद सागर में प्राणों का सृष्टिक्रम है;
सब में घुलमिल कर रहता रसमय यह भावचरम है।

इस स्थिति तक मनु को ले पहुँचने का श्रेय श्रद्धा को है

जो स्वयं 'जगत की मंगल कामना' 'विश्व चेतना पुलकित', 'पूर्ण काम की प्रतिमा', 'प्रेम ज्योति विमला', 'स्नेह की मधु रजनी' और 'अपनी ही एक कला' है। वह मनु को उनकी आत्म-परिधि से मुक्त कर विश्व-चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। यदि इसे अद्वैत की स्थिति कहने का ही आग्रह हो तो भी इसे पलायन कहना अनुचित है क्योंकि पलायन किसी वस्तु, स्थान या व्यक्ति को छोड़कर होता है और यहाँ कोई परित्यक्त नहीं है। इसके **विपरीत त्रस्त मनु में आत्मग्रस्ततामूलक पलायन की जो प्रवृत्ति आरम्भ से ही रह-रहकर व्यक्त होती रही थी, यहाँ पहुँच कर मनु उससे उबर गये हैं :**

> मनु ने कुछ-कुछ मुस्करा कर कैलास ओर दिखलाया;
> बोले "देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
> हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एकहमीं हैं;
> तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ कमी नहीं है।

अपने साहित्यिक कृतित्व के आरंभ से ही 'प्रसाद' स्व और पर, हृदयवाद और बुद्धिवाद, आत्मवाद और विवेकवाद, आनंदवाद और दुःखवाद, भौतिक विज्ञान के विकास और आत्मीयतापूर्ण मानवीय एकता की भावना, भेद-बुद्धि और मंगलमय एकप्राणता के द्वन्द्व का जो अनुभव करते रहे थे, कामायनी में उन्होंने उसकी विशद व्याख्या करते हुए एक सशक्त समाधान की खोज की है। **संत्रस्त मनु के पलायन के उपरांत श्रद्धा के सम्बल से उनका जो उद्धार होता है उसकी प्रतीकात्मक सार्थकता यही है कि त्राण पलायन में नहीं है। उदात्त प्रेम-भावना में जीवन की भयावह भीषणता को डुबोकर संकुचित स्वार्थ-भावना एवं भौतिक लाभ-लोभ की प्रवृत्ति पर विजय पाकर जीवन जीने योग्य बनाया जा सकता है।** प्रेम की निर्मल शक्ति से आत्मोत्थान के साथ ही विश्व-बोध एवं विश्व-संबंधों का उन्नयन अनिवार्यतः होता है। ऐसा होने पर ही वैज्ञानिक युग के संघर्ष की भीषणता का परिहार संभव है। **यह दृष्टि विज्ञान से बच निकलने की नहीं, उसकी मंगलमय परिणति की शोध की है।**

—:०—

रामचरितमानस के सम्पादन की परम्परा

डा० विष्णुदत्त राकेश
गुरुकुल कांगड़ी,
विश्वविद्यालय

पाठालोचन के सिद्धान्तों के अनुरूप सम्पादित प्राचीन काव्य ग्रन्थों का महत्व आज निर्विवाद रूप से प्रमाणित है। साहित्यिक प्रवाह मात्र से उपलब्ध पाठ मोहग्रस्त मान्यताओं के प्रतीक होने से इतिहास के आलेखन विन्दु तो कहे जा सकते हैं पर शुद्धपाठ की सिद्धि के अभाव में मूलकृति के साहित्यिक सौन्दर्य के उद्‌घाटन में सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। ग्रन्थ के मूल स्रोतों, मूल प्रवृत्तियों तथा सुसम्बद्ध विचार शृंखलाओं का विश्लेषण मूल पाठ के निर्धारण के बिना असंभव है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर पाश्चात्य विचारकों की चिन्तन सरणि पर सम्पादित रामायण तथा महाभारत जैसे संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन-प्रकाशन से प्रेरित होकर हिन्दी विद्वानों ने भी हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के पाठ-निर्धारण और सम्पादन का बीड़ा उठाया।

हिन्दी के प्राचीन काव्य ग्रन्थों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त ग्रन्थ रामचरितमानस है। उपाधि-जिज्ञासु शोधार्थियों ने भी जब अनुसन्धान के लिए सर्वप्रथम मानस में डुबकी लगाई तब शोधमर्मी पाठ सम्पादकों की सहज दृष्टि का उस ओर निक्षेप आश्चर्यकारी नहीं है। मध्यकालीन रचनाओं के लिए यह कठोर सत्य है कि सम्प्रदाय या पंथ विशेष से सम्बद्ध होने के कारण कवि की रचना का पाठ उन सम्प्रदाय या पंथों की परम्परा से प्राप्त होने पर ही प्रामाणिक माना जाता रहा। प्रक्षिप्त और सम्पूर्ण विस्तार सहित प्राप्त पाठ श्रोताओं और पाठकों को अधिक रुचते थे अतः कविकृत मूल पाठ के निश्चय की अपेक्षा भक्त ग्राहकों को नहीं थी। इसी ग्राहकी प्रवृत्ति के कारण लवकुश काण्ड तक के मानसपाठ का प्रचार हिन्दी संसार में पिछले दिनों तक रहा।

पश्चिम में पाठालोचन का कार्य १९वीं शती के उत्तरार्द्ध से पूर्व नहीं जाता। भारत में भी काशीनरेश श्री ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह के गुरु श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी ने सम्वत् १९०३ के पूर्ववती हस्तलेख के आधार पर आधुनिक ग्राफ पद्धति के अनुसार मानस के पाठ का संशोधन किया था। लगभग १५ प्रतियों के आधार पर उन्होंने इस क्रोड़-पत्रीय मानस प्रति का सम्पादन किया। इसी ग्रन्थ का प्रकाशन रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश नाम से सम्वत् १९५५ में महाराज प्रभुनारायण सिंह ने खड्ग विलास प्रेस से कराया।

इसके बाद भारतीय भाषाविद् सर जार्ज ग्रियर्सन ने सतसई तथा पदमावत के समान १९४५ वि० में पण्डित सुधाकर द्विवेदी के सहयोग से मानस का सम्पादन किया। आज यद्यपि यह प्रति उपलब्ध नहीं है तथापि सतसई के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसमें सम्पादक की दृष्टि अर्थगत संगति को ध्यान में रखने से पाठ चयन की ही ओर रही होगी, पाठालोचन की ओर नहीं। प्रक्षिप्त पाठ त्याग के अविवेक तथा भाषा के रूप से पूर्णतया परिचित न होने के कारण उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली।

ग्रियर्सन के बाद संवत् १९८० में आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल ने तुलसी ग्रन्थावली का सम्पादन किया। यद्यपि शुक्ल जी से पूर्व १९४२ वि० में भागवत दास ने सरस्वती यन्त्रालय काशी, १९४६ वि० में रामदीन सिंह ने खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर, १९५२ वि० में कोदोराम ने वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९५९ वि० में नागरी प्रचारिणी सभा ने तथा १९८० वि० में रामदास गौड़ ने वणिक प्रेस कलकत्ता से मानस के भिन्न-भिन्न संस्करण प्रकाशित कराए किन्तु आधुनिक पाठ सम्पादन की प्रणाली की दृष्टि से ये सभी प्रयास दूषित कहे जा सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने सर्वप्रथम संवत् १७०४ की प्रति का पाठ कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर मानस का सम्पादन किया। इसकी आधारभूत सामग्री राजापुर की प्रति है। मानस के १७०० वि० और १७०४ वि० के दो प्राचीन हस्तलेख पृथक्-पृथक् हैं। १७०४ वि० की प्रति के लेखक श्री रघु तिवारी नाम के सज्जन हैं। कवि के स्वाक्षरों में लिखी हुई प्रति यह नहीं है। किन्तु मानस के प्रामाणिक पाठ शोधक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस प्रति को प्राचीनतम प्रतियों की कसौटी माना है क्योंकि अनेक संशोधनों-परिवर्द्धनों के बावजूद इस प्रति के अधिकतर पाठ विश्वसनीय हैं। आचार्य शुक्ल ने इसी प्रति का पाठ स्वीकार किया है पर सम्पादन में उन्होंने प्रतियों के सम्बन्धादि का ध्यान नहीं रखा है। प्रसंग, अर्थ तथा छन्दशास्त्रीय गति की संगति में उन्होंने शुद्ध पाठ के चयन पर बल दिया है, पाठालोचन का आग्रह उनमें नहीं है।

पाठान्तर देने की दृष्टि से श्री विजयानन्द त्रिपाठी ने लीडर प्रेस प्रयाग से १९६३ वि० में मानस का सम्पादन किया। इसमें बाल काण्ड का पाठ संवत् १६६१ की प्रति का, अयोध्याकाण्ड का पाठ १७०४ की प्रति का तथा शेष काण्डों का पाठ भागवतदास खत्री वाली परम्परा का रखा गया है। संवत् १७२१ का हस्तलेख भारत कला भवन काशी में सुरक्षित है और इस प्रति का उपयोग श्री शंभुनारायण चौबे ने संवत् २००५ में सभा की सम्पादित प्रति में खुलकर किया है। इस हस्तलेख में अयोध्या काण्ड नहीं है। त्रिपाठी जी ने भागवतदास खत्री वाले पाठ में यथेष्ट संशोधन किया है तथा पाठ की एकरूपता स्थापित करने में स्तुत्य उद्योग किया है। चौबे जी ने आधारभूत प्रतियों का पाठ बिना किसी संशोधन के स्वीकार किया है। मानस की पाठशुद्धि में वर्तनी की एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न इन संस्करणों में प्रायः नहीं हुआ है। नागरी पत्रिका की विज्ञप्ति द्वारा यद्यपि चौबे जी के सम्पादन को अब तक प्रकाशित समस्त संस्करणों से प्रामाणिक माना गया है। १९९७ वि० में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने मलीहाबाद वाली प्रमुख किन्तु परवर्ती प्रति को देखकर, जो अब उपलब्ध नहीं है, गीता प्रेस गोरखपुर से मानसांक रूप में मानस का पाठ प्रकाशित कराया। यह पाठ संवत् १७२१ वाली प्रति की परम्परा पर विशेष आधृत है तथा पाठ की एकरूपता की दिशा में उल्लेखनीय प्रयत्न है।

इसके बाद वैज्ञानिक पाठालोचन के प्रसिद्ध विद्वान् डा० माताप्रसाद गुप्त ने संवत् २००६ में २० प्रतियों को आधार बनाकर मानस का सम्पादन किया। प्रतियों का सम्बन्ध निर्धारण, उनका शाखान्तर्गत वर्गीकरण तथा उपलब्ध पाठ-भेदों का विकास-क्रम दर्शाते हुए डा० गुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानस में कवि ने चार बार संशोधन प्रस्तुत किया और प्रत्येक बार के पाठ की स्वतन्त्र परम्पराएं कालान्तर में प्रचलित हुईं। मानस सम्पादन का यह कार्य अब तक के सम्पादन प्रयासों में सर्वाधिक प्रौढ़ तथा उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

संवत् २०१८ में पाठालोचन की अब तक की सभी साहित्यिक-वैज्ञानिक सरणियों का बलाबल विचार कर तुलसीदास के ख्यातिप्राप्त विद्वान् आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने मानस का सम्पादन किया। तुलसीदास के साकेतवास से १०० वर्ष बाद तक के हस्तलेखों को आधार बना कर मिश्र जी ने यह कार्य सम्पादित किया। लगभग २४ प्रतियों को अधारभूत स्वीकार कर उन्होंने उनकी परम्पराओं और पाठ भेदों पर विचार किया। संवत् १६४१ की परम्परा की बड़इया पटना वाली प्रति से लेकर संवत् १७८३ की लिपिकृति रघुनाथ वाली प्रति तक का सूक्ष्म सम्बन्ध निर्धारण तथा पाठ भेद मिश्र जी ने प्रस्तुत किया। उच्चारण संकेत, पाठ भेद प्रणाली, संक्षिप्त पाठ भेद, काण्डानुसार बढ़ोतरी तथा अभाव सूचक सारणी प्रस्तुत करते हुए उन्होंने परिशिष्ट में प्रक्षेप संकलित कर दिए।

सात सोपानों में पाठों की सूक्ष्म परीक्षा करते हुए काशिराज संस्करण के रूप में उन्होंने मानस का पाठ निर्धारण किया। मानस सम्पादन की परम्परा में यह कार्य मील का पत्थर कहा जा सकता है।

काष्ठ जिह्वा स्वामी के क्रोड़पत्रीय सम्पादन के साथ तुलसीदास के प्रत्यक्ष शिष्य रामू द्विवेदी की प्रेम रामायण नाम्नी मानस की पद्यबद्ध संस्कृत टीका का प्रयोग अयोध्या, किष्किन्धा तथा सुन्दर काण्ड के पाठ निर्धारण में मिश्र जी ने किया। प्रेम रामायण का अनुलिपि काल १६६२ वि० है–

२ ६ ६ १
पुनर्वसु त्रिमस्तकाक्षिष्ट् सुधांशु संमिते,
सुवत्सरेथ कार्तिके सितेक्क संमिते तिथौ दले
लिलेख सुन्दरं तुलामिधो महेशितुः
पुरे हि काण्डकं नवं खेद्दिने द्विजः स्वयं।

मानस सम्पादन में इस कृति का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य मिश्र जी ने किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त की यह निष्पत्ति कि कवि ने मानस लिखने के उपरान्त मानस में एकाधिक बार संशोधन किया, अतर्क्य प्रतीत होती है। आचार्य मिश्र ने अपनी विद्वतापूर्ण भूमिका में इस संभावना पर विचार किया है। कर्त्ताकृत संशोधन की संभावना के लिए उन्होंने तीन स्थल चुने हैं।

१ तापस प्रसंग २ सुन्दर काण्ड का मारुति वन्दनावाला श्लोक तथा ३ अयोध्या काण्ड के मंगल का शंकर वन्दना वाला श्लोक। उसके अतिरिक्त स्वयं कवि द्वारा संशोधन की बात रस सिद्ध कवि के लिए उपयुक्त नहीं। यद्यपि १६३१ से १६८० वि० के मध्य संशोधन की संभावना दुरूह नहीं है। तुलसीदास के स्वाक्षर में मानस न मिलने का हेतु यह हो सकता है कि सुलेखन व्यवसायी लिंपिक से पाण्डुलिपि का हस्तलेख कराया गया होगा और तब पाण्डुलिपि की उपेक्षा से वह लुप्त हो गई होगी। आज भी टंकण हो जाने पर कितने लेखक अपनी पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित रखते हैं? मिश्र जी की द्वितीय निष्पत्ति यह है कि मेधाभगत के लिए मानस की अनुलिपि अवश्य कराई गई होगी। अनुमान से यह अनुलिपि कैथी में हुई होगी। तुलसीदास की निजी प्रति नागरी लिपि की थी, यह निस्संदिग्ध है। इस प्रकार लेखक के जीवन काल में ही मानस के दो प्राचीनतम हस्तलेख हो गये होंगे। इन्हीं दोनों प्राचीन हस्तलेखों की परम्परा आगे चली। कैथी के हस्तलेखों पर से भी नागरी के हस्तलेख लिखे जाते थे और नागरी के हस्तलेखों पर से भी कैथी के हस्तलेख उतरते रहते थे। इससे दोनों लिपियों की वर्तनी का सांकर्य हो गया। कैथी की वर्तनी ने कई महत्वपूर्ण पाठान्तरों को जन्म दिया।[1]

पाठान्तर के हेतुओं पर दृष्टि डालने के बाद वर्तनी की एकरूपता पर विद्वान सम्पादक ने सविस्तार विचार किया। शब्दों के पूर्वी उच्चारण, हस्तलेखों के शब्द रूप, संस्कृत स्तुतियों का विन्यास तथा अपभ्रंश परम्परा के सानुनासिक प्रयोगों तथा समासों पर विचार करते हुए उन्होंने मानस के पाठों को एकरूपता प्रदान की।

पाठ सम्पादन में आचार्य मिश्र की यह दृढ़ धारणा है कि वैज्ञानिक प्रक्रिया के साथ साहित्यिक प्रक्रिया का तुल्य-बल संयोजन होना चाहिए। लाला भगवान दीन तथा आचार्य शुक्ल के सम्पादन की साहित्यिक सरणियों का अभाव वैज्ञानिक सम्पादन की चेतना को स्पष्ट नहीं कर सकता। कतिपय उदाहरण देकर त्रिपाठी जी तथा डा० गुप्त के पाठों की त्रुटियों का उद्घाटन उन्होंने इसी आलोक में किया है। साहित्य तथा शास्त्र की परिपाटी का परित्याग पाठ सम्पादन को निर्दिष्ट रूप नहीं दे सकता। काशिराज संस्करण अपनी इन दो प्रमुख विशेषताओं से संवलित है। पाठ शोध की वैज्ञानिक और साहित्यिक पद्धतियों की गुरु गरिमा से विभूषित मानस का काशिराज संस्करण पाठ निर्धारण और निर्माण की दृष्टि से परिपूर्ण है। काशी के मानस मन्दिर की भित्तियों पर यही पाठ उत्कीर्ण हुआ है। कागजी मुद्रण से लेकर प्रस्तरीय उत्खनन तक की यात्रा इसने पूर्ण कर ली है। क्या मानस का यह सम्पादन हिन्दी पाठालोचन के क्षेत्र में युगान्तरकारी घटना नहीं है?

---

१. रामचरितमानस—काशिराज संस्करण आत्मनिवेदन पृष्ठ १८ प्रथम-आवृत्ति

—:०:—

डा० लालचन्द गुप्त
हिन्दी विभाग,
मोदी कालेज, पटियाला

अस्तित्ववाद: तात्त्विक विवेचन

युग-परिवर्तन के साथ मानव-मस्तिष्क की चिन्तन-धारा विकसित और परिवर्तित होती रहती है और वही युग-दर्शन का रूप ग्रहण करती है। यही कारण है कि जैसे-जैसे युग बदलता है, दार्शनिक चिन्ता-धाराएं भी न्यूनाधिक रूप में बदलती रहती हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि दार्शनिक भविष्य-द्रष्टा होते हैं। उनके विचारों में युग-परिवर्तन की भी शक्ति होती है। दोनों ही तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि दर्शन का सम्बन्ध युग-विशेष से बहुत घनिष्ठ होता है, फिर वह चाहे कितना भी देशकालव्यापी क्यों न हो। अतः किसी भी दर्शन को समझने के लिये उसके उदयकाल की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यहां पर अस्तित्ववाद के उदयकाल की उत्तरदायी परिस्थितियों का सांकेतिक उल्लेख करके उसका तात्त्विक विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

यद्यपि अस्तित्ववादी चिन्तन के मूल में विभिन्न राज्य क्रान्तियों और पूर्ववर्ती दर्शनों की प्रतिक्रिया कार्य कर रही थी, तथापि उसके प्रचार और प्रसार का सम्पूर्ण उत्तर-दायित्व विश्वयुद्धों की विभीषिका और निरन्तर विकसित विज्ञान के प्रभाव पर ही है। युद्धकालीन विभीषिका ने मानव-जीवन की क्षुद्रता, नृशंसता, स्वार्थपरता एवं कटुता का ऐसा पर्दाफाश किया कि मानवता के शुभ पक्षों पर से आस्था ही डिग गयी। सर्वत्र निराशा, वेदना और करुणा का वातावरण छा गया। जीवन और साहित्य के मूल्य अनिश्चित हो गये, जिससे चिन्तन की समस्त परम्परागत मान्यताएं लड़खड़ा गयीं। मृत्यु के जिस भयंकर स्वरूप एवं परिणाम के दर्शन लोगों को विश्व-युद्धों में हुए, उसने एक प्रतिक्रिया का रूप धारण कर लिया और जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का आविर्भाव अनिवार्य हो गया। अतीत और भविष्य को लेकर मानव-जीवन में जो स्वर्णिम कल्पनाएं होती रहीं, युद्धों के भयंकर परिणामों ने उनकी निस्सारता प्रकट कर दी, जिसे न तो धार्मिक अन्धविश्वास रोक पाये और न काल्पनिक आश्वासन ही। युद्धों से पूर्व जिस अस्तित्व पर सन्देह किया जाता था और कोई निर्णायक उत्तर नहीं मिलता था, अब उस अस्तित्व पर विचार करने के लिये मनुष्य विवश हो गया। विश्व की समग्रता में अपने को खो देने की कल्पना समूल भंग हो गई। अब मनुष्य के पास केवल अपना अस्तित्व ही असंदिग्ध रह गया। वह अस्तित्व को आधार बनाकर जीवन की समस्याएं सुलझाने में व्यस्त हो गया। फलतः अस्तित्ववाद को प्रचार-प्रसार प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

कीर्कगार्द, नीत्शे, जैस्पर्स, हैडगर, मार्सल, सार्त्र, कामू और काफ्का अस्तित्ववाद के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक अपने अस्तित्ववादी दर्शन के सभी सिद्धान्तों के विषय में एकमत नहीं हैं। इनमें मार्सल और कामू के विचार तो इतने स्वतन्त्र हैं कि वे स्वयं को अस्तित्ववादी दार्शनिक भी नहीं कहलाना चाहते। इसके विपरीत सार्त्र ने अपने दर्शन को विशेष रूप से अस्तित्ववादी दर्शन घोषित किया है। इतना होते हुए भी इनके चिन्तन की प्रमुख धारणाएं तो समान हैं ही। इन्हीं समान धारणाओं एवं सर्वमान्य विशेषताओं के आधार पर ही इन्हें अस्तित्व-

वादी दार्शनिक कहा जाता है।

'ग्रस्तित्व' शब्द अंग्रेज़ी भाषा के 'एग्ज़िस्टेंस' शब्द का पर्याय है। साधारण भाषा में इन्द्रिय-सुलभ प्रत्येक उपस्थिति को ग्रस्तित्वपूर्ण कहा जा सकता है। कोश के ग्रनुसार ग्रस्तित्व का ग्रर्थ है—'जीवित रहने की वह पद्धति, जो ग्रन्य वस्तुग्रों के साथ समायोजन में निहित है।' प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् 'ग्रस्तित्व' शब्द दार्शनिक पद के रूप में ग्रहण किया गया। ग्रस्तित्ववादी चिन्तन के ग्रनुसार इस शब्द के ग्रन्तर्गत केवल मनुष्य ही ग्राता है। हैडगर का कथन है कि 'केवल मनुष्य ही ग्रस्तित्ववान् है। चट्टानें, वृक्ष, घोड़े, फरिश्ते ग्रौर ईश्वर ग्रादि सभी हैं, परन्तु उनका ग्रस्तित्व नहीं है। मनुष्य तथा ग्रन्य प्राणियों के मध्य चेतना ही वह तथ्य है जो इनके मध्य पूर्णतया भेद स्थापित करती है।'

ग्रस्तित्ववादी दर्शन के उद्‌भव से पूर्व वस्तुगत चिन्तन पद्धति को स्वस्थ दार्शनिक चिन्तन की कसौटी समझा जाता रहा है। इसके ग्रनुसार दार्शनिक ग्रपने व्यक्तित्व ग्रौर भावनात्मक निर्णयों को दमित रखने का प्रयास करता है ग्रौर उन्हें बहुत ही प्रच्छन्न रूप में ग्रपनी दार्शनिक ग्रभिव्यक्तियों के साथ प्रकट होने देता है। ग्रपने सिद्धान्त को सर्वमान्य बनाने के लिये उसे स्वयं को तटस्थ द्रष्टावत् उपस्थित करना पड़ता है। समकालीन ग्रस्तित्ववादियों को इस पद्धति में कोई ग्रौचित्य नहीं दिखाई दिया। उन्होंने साहसपूर्वक इस मान्यता को उलट दिया ग्रौर ग्रात्मगत चिन्तन पद्धति को सशक्त, समर्थ ग्रौर उपयुक्त मानकर उस पर विश्वास किया। इस तथ्य के समर्थन में उनके पास सबसे बड़ा तर्क यह है कि मनुष्य स्वानुभव में ग्रपने ग्रस्तित्व को ग्रसंदिग्ध रूप में पाता है। यही ऐसा सत्य है जिसे ग्राधार बनाकर दार्शनिक चिन्तन में विश्वासपूर्वक ग्रागे बढ़ा जा सकता है। कीर्कगार्द के ग्रनुसार 'किसी व्यक्ति के ग्रस्तित्व का सत्य उस व्यक्ति विशेष के ग्राभ्यन्तर से ही ग्रग्रसर होता है। पूर्वनिर्धारित ज्ञान तथा सामान्य सामाजिक सिद्धान्त जीवन के सत्य हैं तथा एकमात्र वैयक्तिकता ही वास्तविक महत्त्व का केन्द्र बिन्दु है।'

ग्रस्तित्ववाद के ग्रनुसार मनुष्य स्वयं ग्रपने ग्रस्तित्व का कारण नहीं है, ग्रर्थात् वह ग्रपने ग्रस्तित्व को स्वयं उत्पन्न नहीं करता। मनुष्य को इस संसार में फेंक दिया गया है। इसे क्यों फेंका गया है? कहां से फेंका गया है? ग्रादि प्रश्नों के उत्तर में, हैडगर ग्रौर सार्त्र के ग्रनुसार, कोई तर्क, कोई कारण, कोई सफाई ग्रौर कोई हेतु नहीं दिया जा सकता। मनुष्य ग्रचानक-ग्रकारण ही ग्रस्तित्व-वान् हो जाता है।

ग्रस्तित्ववाद के ग्रनुसार व्यक्ति ग्रौर उसका ग्रस्तित्व ही महत्त्वपूर्ण है। 'ग्रस्तित्व सार का पूर्ववती है' यह सिद्धान्त ग्रस्तित्ववाद का केन्द्रीय सूत्र है। प्लेटो के ग्रनुसार 'सार' ही प्राथमिक ग्रौर प्रधान था। संसार की सभी वस्तुग्रों का ग्रस्तित्व सार की प्रतिकृति मात्र ही है, क्योंकि वस्तुग्रों का सृजन ग्रौर नाश होता रहता है; किन्तु जिस सार के ग्रनुरूप उनकी रचना होती है वह नित्य ग्रौर ग्रक्षुण्ण रहता है। प्लेटो के ग्रनुसार 'सार' की खोज करना ही दर्शन का उद्देश्य होता है, क्योंकि सार ही ग्रन्ततः स्थायी होता है। ग्रस्तित्ववाद प्लेटो की इस मान्यता का ग्रक्षरशः विलोम है। कीर्कगार्द के ग्रनुसार हम सर्वप्रथम ग्रपने ग्रस्तित्व का ग्रनुभव करते हैं। ग्रन्य व्यक्तियों ग्रौर वस्तुग्रों के ग्रस्तित्व का बोध भी पहले होता है। उसके उपरान्त ही मनुष्य ग्रपने सार का शोध करता है। सार भी चाहे पहले से ही उपस्थित हो, किन्तु मनुष्य का मन ही उसकी खोज करता है। यह खोज ग्रस्तित्व के ग्रनुभव के बाद ही सम्भव होती है। इसलिये सार की ग्रपेक्षा ग्रस्तित्व को प्रधानता देना ग्रत्यन्त समीचीन है।

ग्रस्तित्ववादी दार्शनिकों ने 'ग्रस्तित्व' ग्रौर 'सार' शब्दों का विशेष ग्रर्थों में प्रयोग किया है। इनके ग्रनुसार 'सार' प्रकृति का निश्चित ग्राकार युक्त, प्रयोजनशील, निष्क्रिय तत्त्व है ग्रौर 'ग्रस्तित्व' वह चेतना-सम्पन्न, क्रिया-शील, ग्रनिश्चित अंश है जो सृष्टि में मानव-मात्र में ही लक्षित होता है। सूत्र को स्पष्ट करते हुए सार्त्र ने लिखा है कि 'सर्वप्रथम मनुष्य का ग्रस्तित्व होता है, वह स्वयं से भिड़ता है, संसार में उभार लेता है ग्रौर तत्पश्चात् ही वह

स्वयं को व्याख्यायित करता है।' इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए सार्त्र ने आगे लिखा है कि 'प्रारम्भ में मनुष्य कुछ भी नहीं होता। बाद में ही वह कुछ होता है और जो कुछ वह होता है, वह स्वयं अपना ही बनाया हुआ होता है।'

दार्शनिक शब्दावली से परे हटकर उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करने से ज्ञात होता है कि जीवन का प्रत्येक परिमाण अथवा सार उसके अस्तित्व की स्थिति का अनुगमन करता है, अग्रगमन नहीं। जब हम किसी वस्तु का निर्माण करते हैं तो उस वस्तु विशेष को प्रस्तुत करने के पूर्व हमारे मस्तिष्क में उसके लिये एक योजना और साथ-ही-साथ एक निश्चित उद्देश्य निहित रहता है। योजना और उद्देश्य के सम्मिलित अर्थ को व्यक्त करने के लिये ही यहां 'सार' शब्द का प्रयोग किया गया है। नियमतः सार अस्तित्व का पूर्ववर्ती होता है, किन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में अस्तित्व ही सार का पूर्ववर्ती होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव-अस्तित्व के पहले किसी प्रकार की पूर्वयोजना अथवा उद्देश्य नहीं है। अस्तित्व में आने के पश्चात् ही मनुष्य अपनी निहित क्षमताओं को विवेकपूर्वक उचित दिशा में लाकर अपने अस्तित्व को अर्थवत्ता प्रदान करता है। व्यक्ति का जीवन एक प्रक्षेपण है। जो अपनी क्षमताओं को जितना अधिक वेग से सारवत्ता की दिशा में संलग्न रखता है उसके अस्तित्व का प्रभाव उतना ही कालजयी और दूरगामी होता है।

अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। सार्त्र के अनुसार वह केवल स्वतन्त्र ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्र होने के लिये अभिशप्त भी हैं। संसार में फेंक दिये जाने के पश्चात् वह प्रत्येक क्षण का अतुलनीय महत्त्व समझता है और अपने स्वतन्त्र-चयन और कार्यों द्वारा अपना निर्माण स्वयं करता है। अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को सार प्रदान करने में उस अकेले के अतिरिक्त और कोई भागीदार नहीं होता। सार्त्र के अनुसार 'यदि मनुष्य अपना सार स्वयं नहीं चुन सकता तो उसकी सारी स्वतन्त्रता दासता से कम नहीं है।' व्यक्ति स्वतन्त्र है, इसका अर्थ है कि व्यक्ति-चेतना स्वतन्त्र है। उसका चयन उसकी चेतना की स्वतन्त्रता को प्रमाणित करता है। मनुष्य व्यवस्था में उत्पन्न होता है, लेकिन अपनी स्वतन्त्रता के द्वारा वह उस व्यवस्था को पुनसर्जित करके निजी व्यवस्था स्थापित करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

मनुष्य की यह स्वातन्त्र्य भावना उच्छृंखलता का पर्याय कदापि नहीं है। वह समाज में रहता है, फलतः उसे सामाजिक बंधनों को भी स्वीकार करना पड़ता है। जब मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षण में, अपने स्वतन्त्र चयन और कार्यों द्वारा, अपने अस्तित्व को सार प्रदान कर रहा होता है तो उसका यह कार्यकलाप और चिन्तन सम्पूर्ण मानव-समाज के प्रतिनिधि के रूप में होता है। ध्यान रहे, ऐसी स्थिति में चोर, डाकू, लुटेरे आदि इस परिधि से बाहर पड़ते हैं। इस प्रकार बन्धन और अनुशासन उसकी स्वातन्त्र्य-चेतना के अन्तवर्ती अनिवार्य तत्त्व के रूप में उपस्थित रहते हैं, आरोपित या बाह्य रूप में नहीं।

मनुष्य स्वतन्त्र है, इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अपने प्रत्येक कार्य-कलाप के प्रति पूर्ण उत्तरदाई भी है। सार्त्र के अनुसार यदि मनुष्य के जीवन में कोई युद्ध भी होता है तो वह उसके उत्तरदायित्व से नहीं बच सकता। समाज में रहने के कारण उसका प्रत्येक कार्य समाज को भी किसी-न-किसी रूप में, अवश्य प्रभावित करता है। फलतः उसका चयन और कार्य-समूह नैतिक ही होता है और नैतिक चयन कभी अशिव नहीं होता। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अपने प्रति उत्तरदायी मनुष्य सम्पूर्ण समाज के प्रति भी उत्तरदायी होता है।...बंधन और स्वच्छन्दता के योग से निर्मित अस्तित्ववादी दार्शनिकों की इस आत्मनिष्ठता में सार्वभौम उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि सार्त्र ने इसे 'मानवतावाद' की संज्ञा प्रदान की है तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है। वस्तुतः यह मानवतावाद की चरम सीमा है और मानवता को अस्तित्ववाद का यह बहुत बड़ा प्रदेय है।

ईश्वर को मान्यता प्रदान करने अथवा न करने से अस्तित्ववाद के मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

वस्तुतः आस्थावादी और अनास्थावादी अस्तित्ववादी दोनों ही प्रकार के दार्शनिक अपने-अपने ढंग से व्यक्ति-अस्तित्व की सत्ता और महत्ता की ही स्थापना करते हैं। आस्थावादी दार्शनिक जहां ईश्वर को सम्मुख रखकर निर्णय लेने की प्रेरणा देते हैं, वहां अनास्थावादी दार्शनिक समस्त दायित्व मनुष्य पर ही डाल देते हैं। इस धारणा से मनुष्य को अपने अस्तित्व के निर्माण में अधिक विश्वास जमता है। सारा दायित्व स्वयं ओढ़कर मनुष्य अतिमानव बनने का प्रयास करता है।

सिक्के के दो पक्षों के भाँति अस्तित्ववाद का एक दूसरा पक्ष भी है। इसके अनुसार निराशा, व्यथा, वेदना, विसंगति, एकाकीपन और शून्यता आदि प्रत्यय मानव-अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जब मनुष्य की परिस्थितियाँ उस पर हावी होकर उसकी चयन की स्वतन्त्रता को बाधित करके उसे जीवन-संघर्ष में पराजित, कुण्ठित और हतप्रभ होने के लिये विवश कर दें तो उसका संत्रस्त, दुःखी तथा नियतिवादी हो जाना स्वाभाविक ही है। आत्मविकास और उसके लिये अपेक्षित स्वतन्त्रता, आशा और उल्लास के अभाव के लिये दुःखी होना भी प्रकारान्तर से आत्मविकास और स्वतन्त्रता आदि का ही समर्थन है। निराशा के मूल में आशा के अभाव का दुःख ही प्रमुख होता है। अतः दुःख, संत्रास, असन्तोष आदि की स्थितियां भी अपेक्षणीय नहीं हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक इनके सम्बन्ध में तीन सामान्य सत्यों को स्वीकार करते हैं। प्रथमतः, दुःख और पीड़ा अस्तित्व की अनुभूति का अनिवार्य आधार है। इन्हें स्वीकार किये बिना मनुष्य अपने अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकता। दूसरे, दुःख और पीड़ा से मुक्ति प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि व्यक्ति उन्हें स्वीकार कर ले। तीसरे, मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए, जिसमें उसकी सारी शक्तियां लग जाएं तथा वह अपनी संवेदनाओं को गम्भीरतम रूप में संवेदित कर सके।

मृत्यु की अवधारणा को लेकर यद्यपि अस्तित्ववादी दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद हैं तथापि वे कतिपय तथ्यों के सम्बन्ध में एकमत भी हैं। उनके अनुसार मृत्यु निरर्थक है क्योंकि मनुष्य उसका चयन नहीं करता। दूसरे, मृत्यु के समय केवल मनुष्य का शरीर मरता है, चेतना नहीं। तीसरे मृत्यु मानव-अस्तित्व की अग्रसरता में बाधक नहीं होती; क्योंकि मरने के बाद मनुष्य अपने पीछे कुछ ऐसे अर्थ और सूत्र छोड़ जाता है जिन्हें दूसरे लोग आगे बढ़ाते हैं। चौथे, जब मृत्यु का आगमन निश्चित ही है तब क्यों न अच्छे जीवन की भाँति अच्छी मृत्यु की ही कामना की जाए।

मूल्यांकन

कोई भी सिद्धान्त जितना अधिक स्वीकृत होता है उसे समझना उतना ही कठिन होता है। अस्तित्ववाद पर भी यह बात पूर्णतः चरितार्थ होती है। बैठकखानों, काफी-हाउसों और साहित्यिक गोष्ठियों में इस दर्शन की चर्चा करना एक फैशन ही बन गया है और "अस्तित्ववाद" शब्द को इस कदर खींचा गया है और उसके अर्थ का इतना अधिक विस्तार हो गया है कि वास्तव में उसका कुछ भी अर्थ नहीं रह गया है। सार्त्र के ही अनुसार, "ऐसे लोग, जो आक्षेप लगाने तथा उत्तेजना फैलाने के लिये उत्सुक रहते हैं, इस दर्शन की ओर उन्मुख हुए हैं जो अन्य दृष्टियों से इस क्षेत्र में उनके उद्देश्य की पूर्ति बिल्कुल भी नहीं करता।"

आरोपकारों ने अस्तित्ववाद को पानी पी-पीकर कोसा है और उसके विरुद्ध मनघड़न्त टिप्पणियां दी हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने अस्तित्ववाद को घोर व्यक्तिवादी, निराशावादी, अवास्तविक, वायवी, दुःखवाद की चुहिया और प्याज का छिलका तक कह डाला है। ऐसे ब्रह्मज्ञानियों को भ्रमज्ञानी कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह सत्य है कि अपनी कतिपय कमियों के कारण अस्तित्ववाद एक गम्भीर एवं सुष्ठु दर्शन का रूप नहीं ग्रहण कर सका, लेकिन जो दर्शन मनुष्य को सुविचारों और सत्कार्यों के द्वारा समाज के तथा अपने प्रति उत्तरदायी रहते हुए जीवन को सार्थक बनाने के सन्देश के आधार पर मृत्यु तक को निरर्थक करार दे देता है उस पर उपर्युक्त आरोप लगाना कहां तक उचित है, नहीं कहा जा सकता।

अस्तित्ववाद ने ईश्वर और धर्म की अनावश्यक महत्ता

से लोगों का ध्यान हटाकर स्वयं मनुष्य के अस्तित्व को ही निष्ठा का केन्द्र बनाया है। अस्तित्ववाद के स्वस्थ रूप में मानव-महिमा की प्रतिष्ठा की गई है और मनुष्य को आत्मनियन्त्रित अन्तश्चेतना के अनुरूप पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। निराशा, नियति, विसंगति आदि के आनुषंगिक विचार भी प्रकारान्तर से आशा, आत्मविश्वास और स्वस्थ जीवन की आवश्यकता और महत्त्व को स्वीकार करते हैं। संक्षेप में, यदि आलोचनाओं के पीछे मस्तिष्क और हृदय की संकीर्णता तथा पक्षपात की भावना न हो तो हमारा विश्वास है कि अस्तित्ववाद में तथ्य दिखाई देगा।

—:०:—

डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता
सहायक प्रोफेसर,
पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, हिसार

"भारतीय साहित्य में उल्लिखित रत्नों का परिचय"

रत्नों द्वारा आभूषण-निर्माण हमारे देश का प्राचीनतम विकसित शिल्प है। इसीलिए पुराने साहित्य में नाना प्रकार के रत्नों की जगमगाहट मिलती है। सच पूछिए तो भारतीय साहित्य में रत्नों का जैसा प्रभूत चित्रण उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में रत्नों की उत्पत्ति, संख्या, तालिका, महत्ता आदि का सविस्तार वर्णन उपलब्ध है। प्रस्तुत निबन्ध में पुराणों, रामायण, महाभारत, बौद्ध-जैन साहित्य, मध्य-कालीन वर्णक ग्रंथ तथा रत्नपरीक्षा-शास्त्रों में वर्णित रत्नों के लक्षणों के आधार पर कतिपय रत्नों का परिचय दिया जा रहा है। साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों का भी पर्याप्त सहयोग लिया गया है। हाँ, वर्णन के क्रम का निर्वाह पूर्वमध्यकालीन संस्कृति का कोष-ग्रंथ वर्णरत्नाकर के अनुसार हुआ है।

इन्द्रनील (नीलम)—अंग्रेजी में इसे सैफायर और लेटिन नाम सेफायरस है। वर्णरत्नाकर पृ० २१ में इसका उल्लेख रत्नों के अन्तर्गत हुआ है। संस्कृत नाम नील और इन्द्रनील हैं। वर्णकसमुच्चय (भाग १, पृ० १३८) तथा सभाशृंगार (पृ० ३१६-१७) के वर्णकों में नील, महानील, इन्द्रनील, नीलम आदि विभिन्न पाठ मिलते हैं। वर्ण-रत्नाकर (पृ० ४१) के बत्तीस उपमणियों में परिगणित 'शिखीनील' भी इसीका पर्याय लगता है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार इसकी उत्पत्ति असुर बल की आँखों से हुई। वैज्ञानिक (दृष्टि) से नीलम नीले रंग का पारदर्शक रत्न है जो कोरुन्डम[1] (Corundum) की जाति है। खनिज के रूप में यह माणिक से भिन्न नहीं है परन्तु रंग के कारण उसे माणिक से भिन्न गिना जाता है। इसका रंग हलका भूरा या गहरे नील की तरह का होता है। उसकी रचना की वजह से उसमें दो तरह के रंग होते हैं। परन्तु फीके रंग के पत्थर में वह पहचाना नहीं जा सकता। गहरे रंग के पत्थर में समुद्र की तरह का नीला और भूरा अथवा पीलापन युक्त हरा पहचाना जा सकता है। भूरे टुरमेलीन और ईओलाईट को बहुत बार नीलम गिनने की भूल हो सकती है। उसमें यह भेद स्पष्टतः दीखता है। नीलम का भूरा रंग क्रोमीअम, लोहा, टीटानीअम के ओक्साइड की वजह से है। प्रचुर गर्मी से इसका रंग उड़ जाता है और वापस नहीं आता।

यह सिलोन, श्याम, ब्रह्मदेश, काश्मीर, मडागास्कर, आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि स्थानों से प्राप्त होता है।[2]

---

१. द्रष्टव्य: लेखक का निबंध 'साहित्य में रत्नों का वर्णन', परिशोध, अंक १०, पृ० ८६-६८।

१. कोरून्डम AL^2O^3 का खनिज है। यह शब्द हिन्दी कुरुन्द और तामील कुरुन्दम से युरोप में उद्भावित हुआ है। यह हीरा से कम किन्तु दूसरे सभी खनिजों से कड़ा होता है। इसकी हल्की जात एमरी कहलाती है। कोरून्डम घड़ी में ज्वेल के रूप में तथा इलेक्ट्रीक साधनों में बैरींग के रूप में काम आता है। (सभा-शृंगार, भाग २, पृ० ६४)।

२. उपस्थित।

इन्द्रनील और जलनील नामों से नीलम दो प्रकार का होता है। इनमें इन्द्रनील जो कालापन लिए नीले रंग का अथवा गहरे नीले रंग का, वजन में भारी, एक समान छायावाला, गोल, चिकना, नरम और बीच में अत्यंत चमकदार हो, ऐसे सात लक्षणों से युक्त इन्द्रनील श्रेष्ठ होता है। जो तेजहीन, अनेक वर्णवाला (कुछ हिस्सों में एक रंग का और कुछ में दूसरे रंग वाला), खरदरा, हलका, चिपटा, बहुत छोटा और जिसके अन्दर लाल रंग की आभा दिखाई देती है ऐसे सात लक्षणों के सहित जलनील—हीन गुणवाला होता है।

कौटिल्य के मत से इन्द्रनील जातीय मणि आठ प्रकार का होता है—१—नीलावलीयक (उज्ज्वल) होने पर भी इसमें नीली धारा की तरंगें दृष्टिगोचर होती हैं, २—इन्द्रनील (मोरपंखे जैसे रंग का), ३—कलायपुष्पक (कलायपुष्प जैसे रंग का), ४—महानील (भौरे जैसा काला), ५—जाम्वदाभ (जामुन जैसे रंग का,) ६—जीमूतप्रभ (मेघवर्ण का,) ७—नन्दक (भीतर से उज्ज्वल किन्तु बाहर से नीला,) ८—स्रवन्मध्य (जिसमें से जल-प्रवाह जैसी किरणें निकलती हों)।[२] बुद्धभट्ट के अनुसार इंद्रनील का रंग इन्द्रधनुष जैसा होता है और महानील का रंग दूध में नीलापन ला देता है। ठक्करफेरु ने इन्द्रनील और महानील को मिलाकर नीलम का नामकरण महेन्द्र-नील किया है।[४] बुद्धभट्ट तथा मानसोल्लास[५] के अनुसार नीलम सिंह से आता था। रत्नशास्त्रों के अनुसार श्वेत नीलम ब्राह्मण, रक्तनीलम क्षत्रिय, पीत नीलम वैश्य और घननील शूद्र माना गया है। ठक्कुर फेरू के अनुसार नीलम के नौ रंग होते थे—नील, मेघवर्णनील, मोरकंठी, अलसी का फूल, गिरिकर्ण का फूल, भ्रमरपंखी, कृष्ण, श्यामल और कोकिल ग्रीवाभ। रत्नशास्त्रों के अनुसार नीलम के छः दोष हैं—अभ्रक (धूमिल), कर्कर (रेतीला), त्रास (टूटा), भिन्न (चिटका), मृतिका गर्भ (भीतर मिट्टी) होना और पाषाण (हीर में पत्थर होना)। ठक्कर फेरू के अनुसार नीलम के नौ दोष हैं—अभ्रक, मंदिस (भद्दा), सकर्करगर्भ, सत्रास, जठर, पथरीला, समल, सगार (मिट्टी भरा) और विवर्ण।

नीलम का दाम मानिक की तरह लगाया जाता था।

कषाय ज्योतिरीश्वर ने अठारह रत्नों की सूची में इसे रखा है। बुद्धभट्ट के अनुसार कषायक पीलापन लिए हुए लाल रंग का पत्थर होता था।[२] पृथ्वीचंद्र चरित्र में इसे 'कसाउला' कहा गया है।

कक्र्केतर— वर्णरत्नाकर में उपमणियों की तालिका में कक्र्केतर का नाम आया है।[४] ठक्कुरफेरू की रत्नपरीक्षा में कथित कर्केत्तन से यह तुलनीय है। कर्केत्तन की उत्पत्ति ठक्कुरफेरू ने पवणुप्पट्ठान देश में मानी है। डा० मोतीचन्द्र जी उसका मतलब दो जगहों से मानते हैं—पवण और उवप्पट्ठान। पवण से गजनी के पास का पर्वाण और उवप्पट्ठान से अफगानिस्तान का बोध होता है।

ठक्कुर फेरू के अनुसार उसका रंग तारे अथवा पके हुए की तरह नीलाम होते था। पृथ्वीचंद्रचरित्र,[५] सभा-श्रृंगार[६] तथा वर्णकसमुच्चय[७] की रत्नसूचियों में भी ककेतन नामक रत्नजाति का ही उल्लेख आया है।

सबसे पहले वराहमिहिर की बृहत्संहिता में 'कर्केत्रर' (कर्केत्तर) नामक रत्न की चर्चा मिलती है, जिसे वर्णरत्ना-

---

१. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२६।
२. अर्थशास्त्र, अ० ११।
३. बुद्धभट्ट कृत रत्नपरीक्षा।
४. ठक्करफेरू कृत रत्नपरीक्षा, पृ० ८१।
५. मानसोल्लास, ४६२।

---

१. वर्णरत्नाकर, पृ० २१
२. बुद्धभट्ट कृत रत्नपरीक्षा, २१२-७९।
३. पृथ्वीचंद्रचरित्र, प्रा० अ० ग० सं०, पृ० १२९।
४. वर्णरत्नाकर, उपमनिवर्णना, पृ० २१ तथा ४१।
५. पृथ्वीचंद्रचरित्र, रत्नसूची, क्र० ८, पृ० १२९।
६. सभाश्रृंगार, विभाग १०, रत्नवर्णक ४, ५, पृ० ३१६-१७।
७. वर्णकसमुच्चय, भाग १, पृ० १३९।

कर में कर्केत्तर कहा गया है।

वज्रेन्द्रनीलमरकतकर्केत्रपरद्मरागरुधिराख्याः।
वैदूर्यपुलकविमलकराजमणि स्फटिक शशिकान्ताः ॥[१]

बुद्धभट्ट ने कुलकर्केत्तन को नीले किस्म का पत्थर कहा है।[२] कर्केत्तर, कर्केन और कुलकर्केतन पर्याय ही हैं।

गोमेद (अं० ग्रोनिक्स)[३]—वर्ण रत्नाकर,[४] पृथ्वी-चंद्र-चरित्र,[५] सभाशृंगार[६], ठक्कुरफेरू[७], की रत्नपरीक्षा, अगस्तिमत[८], वृहत्संहिता[९] तथा अर्थशास्त्र[१०] में रत्नों के बीच इसका उल्लेख आया है। इसके संस्कृत नाम पीतरत्नक और गोमेद हैं। यह गाय के मेद यानी गाय की चर्बी के समान वर्ण वाला होता है। इसी लिए इसका नाम गोमेद मणि पड़ा। स्वच्छ गोमूत्र के समान वर्णवाला, उज्ज्वल (चमकदार), चिकना, समतल, भारी, निर्दल, कोमल और प्रकाशवान् इन आठ लक्षणों से युक्त गोमेदमणि उत्तम होता है। कान्ति-रहित, वजन में हलका, रूखा, चपटा, परतवाला, प्रभा-रहित, काँच के समान पीले रंगवाला गोमेदमणि निकृष्ट होता है[११]। कौटिल्य के अनुसार आठ प्रकार के वैदूर्यमणि

१. वृहत्संहिता, अ० ८०, श्लोक ४।
२. बुद्धभट्ट कृत रत्नपरीक्षा, २१२-७९।
३. ग्रोनिक्स SiO4 का खनिज है।
 क- रटलेज एलिमेंट्स ग्राफ् मिनरेलाजी, एच० एच० रीड, लंदन।
 ख- टेक्स्टबुक ग्राफ् मिनरेलाजी, एडवर्ड सेलिसबरी डाना और विलियम ई फोर्ड, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, पृ० ४७३।
४. वर्णरत्नाकर पृ० २१।
५. बृथ्वीचंद्रचरित्र पृ० १२९।
६. सभाशृंगार, विभाग १०, पाचवाँ रत्न वर्णक।
७. ठक्करफेरू कृत रत्नपरीक्षा, १००।
८. अगस्तिमत, क्षेपक ४, ५।
९. वृहत्संहिता, रत्नपरीक्षाध्याय, ४।
१०. अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्याय ११।
११. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२६।

के एक भेद का नाम है गोमेदक (गोरोचन के रंग का)।[१] अगस्तिमत के क्षेपक में गोमेद को स्वच्छ गुरु, स्निग्ध और गोमूत्र के रंग का कहा गया है।[२] ठक्कुरफेरू ने इसका रंग गहरा लाल, सफेद और पीला माना है।[३] हिन्दी में गोमेद को राहुरत्न और जवाहर भी कहा गया है।

पद्मराग (अं० रुबी)—इसके संस्कृत पर्याय माणिक्य, पद्मराग, शोणरत्न, लोहित, सौगंधिक, कुरुविंद, नीलगंधि और मांसखंड हैं। हिन्दी में इसे मानिक, चुन्नी और लाल कहते हैं। बंगला में यह माणिक, पंजाबी में लाल, गुजराती में माण्यक, फारसी में याकूत, अरबी में लाल बदख्शां और लेटिन में रुबिनस कहलाता है। पद्मराग नाम से इसकी चर्चा वर्णरत्नाकर,[४] पृथ्वीचंद्र चरित्र[५], सभाशृंगार,[६] वर्णक-समुच्चय,[७] अर्थशास्त्र[८] और वृहत्संहिता[९] आदि में हुई है। इसके पर्याय 'मानिक' का उल्लेख वर्णरत्नाकर में राजदरबार,[१०] स्मरगृह[११] और शयनकक्ष-वर्णन[१२] में किया गया है तथा 'मानिक्य' का वणिक पुत्र वर्णना[१३] के प्रसंग में।

वराहमिहिर के अनुसार स्निग्ध कांति से दीपित, स्वच्छ कांति से युक्त, भारी, सुन्दर आकारवाले, मध्य में प्रभायुक्त, अति लोहित और श्रेष्ठ गुणों से संयुक्त ये सब

१. अर्थशास्त्र अधि० २, अ० ११।
२. अस्तिमत, क्षेपक ४, ५।
३. रत्नपरीक्षा, १००।
४. वर्णरत्नाकर, पृ० २१।
५. पृथ्वीचंद्रचरित्र पृ० १२९।
६. सभाशृंगार, पृ० ३१७-१७।
७. वही, पृ० १३८
८. अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० ११।
९. वृहत्संहिता, पद्मरागलक्षणाध्याय।
१०. वर्णरत्नाकर, पृ० १०।
११. वही, पृ० ११।
१२. वही, पृ० १४।
१३. वही, पृ० ६६।

पद्मरागमणि के प्रधान गुण हैं। आधुनिक भूतत्वविज्ञान वेत्ताओं ने इसे कोरुन्डम की जाति का लाल और पारदर्शक (रेड और ट्रांसपेरेंट) पाषाण माना है जो हीरे के बाद सबसे बड़ा पत्थर कहा जाता है।[२] मानसोल्लास के अनुसार स्निग्ध छाया, गुरुत्व, निर्मलता और अतिरिक्तता मानिक के गुण माने गये हैं। अगस्तीयरत्नपरीक्षा के अनुसार बढ़िया मानिक गहरे लाल रंग का, लोहे से न कटने वाला, चिकना, मांसपिंड की आभा देने वाला, बुद्धिदायक तथा पापनाश होता था[४]। ठक्कुरफेरू के अनुसार मानिक में आठ गुण हैं—यथा सच्छाय, सुस्निग्ध, किरणाय, कोमल, रंगीलापन, गुरुता, समता और महत्ता। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार मानिक की उत्पत्ति असुर बल के रक्त से हुई।

वराहमिहिर के अनुसार सौगन्धिक, कुरुविन्द, स्फटिक इन तीन पत्थरों से पद्मराग की उत्पत्ति होती है। सौगन्धिक पत्थर से उत्पन्न पद्मराग, भ्रमर, अञ्जन, मेघ या जामुन के रस के समान कान्ति वाले होते हैं। कुरुविन्द से उत्पन्न पद्मराग, शुक्लकृष्ण मिश्रित, मन्दकान्ति वाले और धातुओं से विद्ध होते हैं तथा स्फटिक से उत्पन्न होने वाले पद्मराग कान्तिवाले, नाना वर्ण वाले और विशुद्ध होते हैं।[५] ठक्कुरफेरू के अनुसार पद्मराग सूर्यतपे सोने और अग्निवर्ण का, सौगंधिक पलास के फूल, कोयल, सारस और चकोर की आँख के रंग जैसा तथा अनारदाने के रंग का, नीलगंध कमल, आलता, मूंगा और ईंगुर के रंग का, कुरुविंद पद्मपराग और सौगन्धिक के रंग का तथा जमुनिया (जामुन) और कनेर के फूल के रंग का होता था[१]।

मानसोल्लास में सोमेश्वर ने मानिक के आठ दोष इस प्रकार बताए हैं—यथा द्विच्छाय, द्विवपद, भिन्न, कर्कर लशुनपद (दूध से पुते की तरह), कोमल, जड़ (रंगहीन) और धूम्र (धुमेला)।[२] ठक्कुरफेरू ने उसके ये दोष बताए हैं—गतछाय, जड़, धूम्रता, भिन्न, लशुन, कर्कर और कठिन, विषद तथा असुंदर[३]। भाव प्रकाश के अनुसार छिद्रयुक्त, खरदरा, मैला, रूखा, चपटा, हलका, टेढ़ामेढ़ा और आरपार नहीं दीखने वाला मानिक दोषयुक्त होता है, और त्यागने योग्य तथा निष्कृष्ट होता है।[४] वराहमिहिर के अनुसार भी मलिन कान्ति वाले, रेखाओं से व्याप्त, मिट्टी आदि धातुओं से युक्त, फटे हुए, अप्रशस्त, छिद्र और कंकरों से युक्त तथा सुन्दरता से रहित पद्मरागमणि दोषपूर्ण है।[५]

प्रायः सब शास्त्रों के अनुसार सबसे अच्छा मानिक लंका में रावणगंगा नदी के किनारे मिलता था। कुछ साधारण श्रेणी के मानिक कलपुर, आँध्र तथा तुंवर में मिलते थे।[६]

यह प्रसिद्ध मूल्यवान पत्थर मोटे तौर पर दो प्रकार का होता है - एक रक्तवर्ण का और दूसरा कुछ नीलापन युक्त। ये दोनों प्रकार के मानिक क्रम से लाल कमल और नीले कमल के समान, एक लाल दूसरा कुछ नीले रंग का होता है। जो चिकना, स्वच्छ, भारी, गोल, लम्बा, एक समान ऐसा मानिक है वह उत्तम होता है। नीले रंग का मानिक गंगा से उत्पन्न होने वाला और बाहर से लाली लिए हुए परन्तु भीतर से नीला दिखाई देने वाला है, जो 'नीलगन्धि' कहलाता है।

---

१. स्निग्धः प्रभानुलेपी स्वच्छोऽर्चिष्मान् गुरुः संस्थानः।
   अन्तःप्रभोऽतिरागो मणिरत्नगुणाः समस्तानाम्।
   बृहत्संहिता, अ० ८२, श्लोक ३।
२. डाना तथा फोर्ड, मिनरेलाजी, एशिया पब्लि० १९६० सं०, पृ० ४८२।
३. मानसोल्लास, ४८५।
४. अगस्तीय रत्नपरीक्षा, ५३-६०।
५. ठक्कुरफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ६२।
६. बृहत्संहिता, अ० ८२, श्लोक १-२।

---

१. रत्नपरीक्षा, ५७-६१।
२. मानसोल्लास, ४७६-४८३।
३. रत्नपरीक्षा, ६२।
४. भावप्रकाश विद्योतिनी टीका, पृ० ४२५।
५. बृहत्संहिता, अ० ८२ श्लोक ४।
६. मानसोल्लास, १। ४७३-७४।

वराहमिहिर[1] तथा बुद्धभट्ट[2] के अनुसार मानिक के चार भेद हैं पद्मराग, सौगन्धिक, कुरुविंद और स्फटिक हैं। अगस्तिमत[3] के अनुसार तीन ही भेद हैं यथा, पद्मराग, सौगंधिक, कुरुविंद। अगस्तीय रत्नपरीक्षा में मानिक का एक नाम मांसपिंड भी है। ठक्कुरफेरू ने उसका एक साधारण नाम चुन्नी भी बताया है[4] और भेद बताए हैं—पद्मराय (पद्मराग), सौगंधिय (सौगंधिक), नीलगंध, कुरुविंद और जामुणिय। वर्णकसमुच्चय में 'चूनी'[5] और सभाश्रृंगार में 'चूनी'[6] क पाठ हैं।

पीतराग (लेटिन टोपाजियो)-- गुजराती में पीलुरत्न पुखराज को कहा गया है जिसके संस्कृत नाम पुष्पराग, मञ्जमणि तथा वाचस्पतिवल्लभ मिलते हैं। अंग्रेजी में इसे टोपाज[7] कहते हैं। वर्णरत्नाकर में पीतराग की गणना उपरत्नों (उपमनि) के अन्तर्गत हुई है।

वजन में भारी, स्निग्ध, चिकना, निर्मल, मोटा, समतल, कोमल, कर्कशता-रहित और कर्णिकार के फूल के समान पीले रंग का पुखराज (पीतराग) श्रेष्ठ होता है। कांतिहीन, खरदरा, रूखा, काले-पीले मिश्रित रंग का, ऊंचा नीचा, टेढ़ा-मेढ़ा, कालापन युक्त भूरे रंग का और पांडु वर्ण पुखराज निकृष्ट होता है।[8]

कई बार पुखराज (पीतराग या पुष्पराग) एकदम पानी जैसा रंगहीन होता है। लाल, पीला, बादामी, हरा, और भूरे रंग का भी यह होता है। यह ग्रेनाइट आदि की चट्टानों से निकलता है और कई बार टीन की कच्ची धातु की खानों पर भी निकलता है।

प्रवाल (अं० रेडकोरल, ले कारेलियाँ रुब्रम)—हिन्दी में इसे मूंगा कहते हैं। संस्कृत नाम प्रवाल तथा विद्रुम है। वर्णरत्नाकर में रत्नों के बीच इसका उल्लेख रत्नवर्णन[1] और समुद्रवर्णन[2] के प्रकरणों में तो आया ही है, नायिका के ओष्ठ की लालिमा देखकर प्रवाल के द्वीपान्तर चले जाने का उल्लेख भी मिलता है[3]। मूंगे का वृक्ष झारदार होता है और इसकी माला बनाकर गले में पनहते हैं। जो मूंगा अत्यन्त लाल हो और अपने रंग को न बदले वह उत्तम अन्यथा त्याज्य है। असली मूंगे की उत्पत्ति एक प्रकार के समुद्री कीड़े से है। इन कीड़ों को अंग्रेज विद्वान् 'कोरैल्लम' कहते हैं। यह प्रायः अमेरिका, अफ्रीका, लाल सागर, पारसियन गल्फ, इण्डियन ओशन में अधिकतर पाया जाता है। यह फ्लोरीडा में भी उत्पन्न होता है। मूंगे के कीड़े एक प्रकार की खोल बनाते हैं, जिसमें वह रहकर शाखान्वित मूंगे को उत्पन्न करते हैं। मूंगे की जड़ मधुमक्खियों के छत्ता के समान दीख पड़ती है। यह लालिमा युक्त सफेद तथा काले रंग की होती है। प्रायः यूनानी हकीम इसको अधिक उपयोग में लाते हैं। इसको 'बैखमिरजा' कहते हैं। असली मूंगा पके हुए कंदूरी फल के समान, रक्तवर्ण, गोल, स्निग्ध, वक्रभाव से रहित छिद्ररहित और तौल में भारी होता है। पत्थर पर रगड़ने से भी इसकी कांति नहीं बदलती बल्कि वह लाल ही रहता है। आजकल शंख और सिंगरफ को मिला खमीर बना करके नकली मूंगा तैयार कर लेते हैं। प्रवाल की शाखायें टेढ़ी-मेढ़ी लाल रंग की होती हैं, मोटी शाखाओं से मूंगा तैयार करते हैं और पतली शाखायें रद्दी रूप से बाजार में बिकती हैं।[4]

---

१. वृहत्संहिता, ८२।१।
२. बुद्धभट्ट कृत रत्नपरीक्षा, ११४।
३. अगस्तिमत, १७३।
४. ठक्कुरफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ५६।
५. वर्णक समुच्चय, भाग १, पृ० १३८।
६. सभा श्रृंगार, पृ० ३१६।
७. आधुनिक भूतत्व विज्ञान के अनुसार टोपाज AL2 F2 SiO4 का खनिज है—
   (१) रटलेज मिनरेलाजी, एच० एच० रीड, लंदन, पृ० ४।
   (२) मिनरेलाजी, डाना एण्ड फोर्ड, एशि० पब०, बंबई।
८. भावप्रकाश, विद्योतिनी- टीका, पृ० ४२५।

---

१. वर्णरत्नाकर, पृ० २१।
२. वही पृ० ५५।
३. 'अधरत शोभा देषि प्रवाल द्विपान्तर गेल, सखी-वर्णना, वर्ण रत्नाकर पृ० ६।
४. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२७।

विद्रुम[1] (मूंगा वा प्रवाल) का मध्यकालीन साहित्य में कई स्थानों पर रत्नों की सूची में उल्लेख आया है। सभाशृंगार के रत्न सम्बन्धी चौथे वर्णक[2] और पृथ्वीचन्द्र चरित्र[3] में 'प्रवाला' पाठ आया है। लेकिन सभाशृंगार के रत्न सम्बन्धी पाँचवें वर्णक[4] में प्रवाल पाठ भी मिल जाता है।

कौटिल्य के अनुसार मूंगा आलकन्दक (अलकन्दन) नामक समुद्रतट) और विवर्ण (यूनान) से आता था।[5] बुद्धभट्ट[6] के अनुसार मूंगा शंकवलु, सम्लासक, देवरु और रामक से आते थे। यहाँ रामक शायद रोम के लिए आया है। अगस्तिमत के एक क्षेपक में कहा गया है कि हेमचन्द पर्वत की एक खारी झील में मूंगा पाया जाता था। ठक्कुरफेरू के अनुसार[7] यह कावेर, विन्ध्याचल, चीन, महाचीन समुद्र और नैपाल में पैदा होता था।

डा० मोतीचन्द्र के अनुसार यहाँ कावेर से मतलब दक्षिण के कावेरी पट्टीनम् के बन्दरगाह से हो सकता है। विन्ध्याचल में मूंगा मिलना तो कल्पना मात्र है। चीनी व्यापारी का इस देश में बाहर से मूंगा लाना संभव है। समुद्र से भूमध्यसागर, फारस की खाड़ी और लाल सागर के मूंगों से मतलब मालूम पड़ता है। नेपाल संभव है नेपाली व्यापारियों द्वारा मूंगा लाए जाने पर नैपाल उसका उत्पत्ति-स्थान मान लिया गया हो।[8]

काले रंग का प्रवाल ईरान की खाड़ी में उत्पन्न होता है।[9] गोंड लोग हथियार और शिरछत्र को सुशोभित करने के लिए प्रवाल का उपयोग करते थे।

१. वर्णक समुच्चय भाग १, पृ० १३८।
२. सभाशृंगार, पृ० ३१६।
३. पृथ्वीचन्द्र चरित्र, पृ० १२९।
४. सभाशृंगार, पृ० ३१७।
५. अर्थशास्त्र, अध्याय ११।
६. बुद्धभट्ट कृत रत्नपरीक्षा, पृ० २४९-२५२।
७. वही, पृ० ९०।
८. डा० मोतीचन्द्र, रत्नपरीक्षा, मैथिलीशरण अभि० ग्रन्थ
९. सभाशृंगार, भाग २, पृ० ६६॥

भस्मांग—ज्योतिरीश्वर ने उपमणियों की तालिका में दो स्थानों पर भस्मांग को उल्लिखित किया है।[1] संभवतः इसे ही ठक्कुरफेरू ने भीसम (भीष्म) नाम से अपने रत्न-परीक्षा नामक ग्रन्थ में समाविष्ट किया है।[2] ठक्कुरफेरू ने भीष्म का उत्पत्ति स्थान हिमालय पर्वत माना है। यह सफेद रत्न बिजली और आग से रक्षा करने वाला समझा जाता था। शब्दार्थ चिन्तामणि के अनुसार भी यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त में पाया जाने वाला कोई रत्न है।[3] वृहत्संहिता के किसी संस्करण में भीष्म के स्थान में विषमक पाठ है।[4] लेकिन नवीन विमला भाष्य में विमलक पाठ मिलता है।[5] कौटिल्य ने १८ प्रकार का मणिभेद बताते हुए विमलक (श्वेत हरित वर्ण) के नाम से ही शुभारंभ किया है।[6] भावप्रकाश की विद्योतिनी टीका में फिरोजा (पिरोजा) नामक उपरत्न को दो प्रकार का बताया गया है, एक भस्मांग और दूसरा हरा।[7] यह बहुत ही चमकीला होता है। अवश्य ही भस्मांग से यहाँ भी तात्पर्य सफेद से ही है। अंग्रेजी में इसे टिर्कोआयज कहते हैं और लैटिन नाम टँर्चे-सिन्स टरचाइना।

मरकत (स्मैरैगोल्स)—मरकत की गणना वर्ण-रत्नाकर में "अष्टादश जाति रत्न" प्रकरण के अन्तर्गत की गई है।[8] मरकत अर्थात् पन्ना के संस्कृत नाम गारुत्मत, मरकत, अश्मगर्भ और हरिन्मणि है। यह हरे रंग का वजन में भारी, स्निग्ध, उज्ज्वल किरणों वाला, तेजयुक्त, कर्कश

१. वर्णरत्नाकर, उपमनिवर्णना, पृ० २१, पोखरा वर्णना, पृ० ४१।
२. ठक्कुरफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ९९।
३. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५२ सं०, पृ० ७६
४. उपरिवत्।
५. वृहत्संहिता, बिमला हिन्दी टीका, चौखम्बा विद्याभवन १९५९ सं०, पृ० ४८७।
६. अर्थ० २।११।
७. भावप्रकाश, विद्योतिनी भाष्य, चौखम्बा, १९५६ सं०, पृ० ४२९-३०।
८. वर्णरत्नाकर, पृ० २१।

रहित और समान, ऐसा मरकत शुभ होता है । और जो कपिल वर्ण अर्थात् भूरे रंग का, कर्कश नील रंग का, पाण्डुवर्ण (कुछ पीले वर्ण का) अथवा काले पीले मिश्रित रंग का, वजन में हलका, चपटा, टेढ़ा-मेढ़ा काला और रूखा होता है वह निकृष्ट कहा जाता है ।[1]

पृथ्वी चंद्रचरित्र,[2] सभाश्रृंगार,[3] वर्णकसमुच्चय[4] और बृहत्संहिता[5] में भी मरकत मणि का रत्न के रूप में उल्लेख आया है । बुद्धभट्ट की रत्नपरीक्षा के अनुसार इसकी उत्पत्ति के विषय में बताया गया है कि जब गरुड़ ने असुर-बल का पित्त गिराया तो वह बर्बरालय छोड़कर रेगिस्तान के समीप, समुद्र के किनारे के पास, एक पर्वत पर गिरकर मरकत बन गया । अगस्तिमत[6] के अनुसार वह सुप्रसिद्ध पर्वत समुद्र के किनारे के पास तुरुष्कों के देश में स्थित था । अगस्तीय रत्न परीक्षा[7] के अनुसार पन्ने की दो खानें थीं एक तुरुष्क देश में और दूसरी मगध में । ठक्कुर फेरू ने मरकत के उत्पत्ति-स्थान अवलिंद, मलयाचल, बर्बरदेश और उदधितीर माने हैं ।[8] मालेट के विवरण के अनुसार दक्षिण बिहार के हजारी बाग जिले में पन्ने की एक खान थीं ।[9] अंग्रेजी में भूतत्ववेत्ताओं ने इसे एमरेल्ड कहा है । यह चमकते हुए हरे रंग के बेरिलजाति का पाषाण रत्न है । षट्कोण के आकार के इसके कण (क्रिस्टल्स) होते हैं । यह ग्रेनाइट की चट्टान के अन्दर मिलता है । क्रोमियम नामक खनिज तत्व के कारण ही इसका रंग ऐसा होता

१. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२५ ।
२. पृथ्वीचंद्र चरित्र, पृ० १२६ ।
३. सभाश्रृगार, पृ० ३१६-१७ ।
४. वर्णक समुच्चय भाग १, पृ० १३८ ।
५. वृहत्संहिता, रत्नपरीक्षाध्याय, ४ ।
६. अगस्तिमत २८७ ।
७. अगस्तीय रत्नपरीक्षा, ७५ ।
८. ठक्कुरफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ७३ ।
9. Records of the Geological Survey of India Vol. 7, page 43.

है ।[1] उत्तरी अमेरिका में अल्वनी के पास मेन नामक स्थान पर १८ फीट लम्बा और ४ फीट व्यास वाला १८ टन का केवल एक क्रिस्टल मरकत का मिला था ।[2] प्राचीनकाल में यह मिश्र से प्राप्त होता था । पेरू निवासियों के पास से स्पेनिस लोगों ने बहुत से मरकत प्राप्त किए थे । यूराल तथा आल्प्स पर्वत से भी यह प्राप्त होता है । अमेरिका में यह बहुत ही अल्प परिमाण में मिलता है । सन् १९४६ के बाद से तो वहां कृत्रिम ढंग से मरकत बनने लग गया है । इसका उपयोग जेम स्टोन की तरह किया जाता है ।

प्राचीन कालीन धारणा के अनुसार मरकत पहनने से फेफड़ा तथा संग्रहणीय के रोग दूर हो जाते थे । स्त्रियों को संतान प्राप्ति होती थी और सभी तकलीफें दूर हो जाती थीं । इनमें कुछ मान्यताओं का अस्तित्व आज भी है ।

अगस्तिमत के अनुसार महामरकत में अपने पास की वस्तुओं को रंगीन कर देने की शक्ति होती थी । मरकत सहज और श्यामलिक रंग के होते थे । सहज का रंग सेवार जैसा और दूसरा शुकपंख, शिरीषपुष्प और तूतिया जैसा होता था । ठक्कुर फेरू द्वारा पन्ने की निम्नलिखित पांच जातियाँ मानी गई हैं – गरुड़ोद्धार, कीडउढ़ी, धूलिमराई, बासवती, मूगउनी ।[3] गरुड़ोद्धार का रंग गहरा हरा, कीडउढ़ी का कृष्ण-हरताल वर्ण की ओर धूलिमराई हरे कांच जैसी मानी गई है । इससे पता चलता है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जौहरियों को पन्ने के अनेक नाम ज्ञात थे । उपर्युक्त विवरण में कथित गरुड़ोद्धार ही डा० मोतीचंद जी के मत से शायद असली पन्ना था ।[4] ठक्करफेरू का

१. A Test Book of Minerology, Dana and Ford, Asia Publishing Second, Edition, 1960.
२. वही, पृ० ५८१ इस सूचना के लिए पंजाब विश्वविद्यालय के भूतत्व विभाग के अपने मित्र श्री संतसिंह का लेखक आभारी है ।
३. ठक्करफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ७३ ।
४. डा० मोतीचंद्र, रत्नपरीक्षा, मैथिलीशरण अभिनंदन ग्रंथ ।

गरुड़ोद्धार, वर्णरत्नाकर[१] तथा पृथ्वीचंद्र चरित्र[२] में कथित गरुडोद्गार और सभाशृंगार के पांचवें रत्नवर्णक[३] में उल्लिखित गरुडोद्भवोद्गार एक ही हैं। इसके साथ ही ज्योतिरीश्वर द्वारा उपमणियों की तालिकाओं में लिखित गरुत्पक्ष (पृ० ७१) और गरुडपक्ष (पृ० ४१) भी इससे तुलनीय हैं। "कीटपक्ष"[४] नाम से वर्णरत्नाकर में उपमणियों की तालिका में जिसका उल्लेख ज्योतिरीश्वर ने किया है, वही पृथ्वीचंद्र चरित्र में "कीटपंखि"[५] नाम से उद्धृत है। ठक्करफेरू द्वारा पन्ने के वर्गीकरण में "कीडउठी" नाम से इसे ही बताया गया है। इसका अर्थ डा० मोतीचंद जी के मतानुसार शायद टिड्डी का पंख हो सकता है।[६] पर, इसका उल्लेख वर्णरत्नाकर में उपमणियों के अन्तर्गत होने से यह मरकत की न्यून जाति मानी जा सकती है।

"धूलिमरक्त" नाम से भी वर्णरत्नाकर में उपमणियों के अन्तर्गत जिसकी चर्चा हुई है,[७] इसे ही पृथ्वीचंद्र चरित्र में "धूमराई" कहा गया है।[८] ठक्करफेरू ने धूलिमराई नाम से इसे मरक्त का ही भेद कहा है।[९] लेकिन ठक्करफेरू द्वारा कथित मरकतमणि (पन्ना रत्न) की इस जाति को उपरत्नों के बीच ज्योतिरीश्वर द्वारा उल्लिखित करना शायद इसके घटियापन के कारण ही संभव हुआ है। वर्णरत्नाकर में दूसरे स्थान पर भी "चूलीमरक्त" का पाठ उपमणियों की तालिका में भी मिलता है जो "धूलिमरक्त" का ही अशुद्ध पाठ है।[१०]

रत्नशास्त्रों के अनुसार पन्ना के पांच गुण हैं—स्वच्छ, गुरु, सुवर्ण, स्निग्ध और अरजकत्व (धूलिरहित)। इसके दोष हैं—शवलता, जठरता (कांतिहीनता), मलिनता, रुक्षता, सपाषाणता, कर्करता और विस्फोट। वराहमिहिर के मत से तोता, बांस का पत्ता, केला या शिरीष पुष्प के समान कान्तिवाले मरकत को देवता या पितर के कार्य में धारण करना बहुत ही शुभफलदायक होता है।[१]

मुक्ता (मोती)—अंग्रेजी में इसे पर्ल और लेटिन में मार्गारिठा कहा गया है। संस्कृत में मोती के पर्याय मौक्तिक, शौक्तिक, मुक्ता तथा मुक्ताफल हैं। यह एक सफेद, चमकीला और मूल्यवान महारत्न है। ज्योतिरीश्वर को यह बहुत अधिक प्रिय है। सबसे पहले सुन्दरियों के विद्रुम से स्पर्द्धा करनेवाले लाल-लाल अधरों के बीच फूटे हुए दाड़िम के दानों को मात देनेवाली दंतपंक्तियों के लिए सिन्दूर में लोटे हुए मोतियों का उपमान ही कविशेखर को अत्यधिक भाता है।[२] इसके बाद मणि, माणिक्य और मुकुता से विचित्रित दिव्याम्बर का कंपमान सौन्दर्य लेखक को सुषमा के मनोहर लोक के निर्माण में योगदान दे रहा है।[३] मणिवर्णना के प्रसंग में मुकुता को लेखक ने अठारह रत्नों के बीच गिनाया है।[४] राज्यवर्णना के प्रसंग में मणि-मुक्ता का वर्णन प्रधान प्रसाधन सामग्री के रूप में किया गया है।[५] वणिकपुत्रों के लिए मुक्ता के गुण-दोषों का परीक्षक और मर्मज्ञ होना नितान्त आवश्यक समझा गया है।[६]

सभाशृंगार[७] तथा वर्णकसमुच्चय[८] के वर्णकों में भी "मुक्ताफल" की गणना रत्नों के बीच की गई है। मोती

---

१. वर्णरत्नाकर, रत्नवर्णना, पृ० २१ तथा ४१।
२. पृथ्वीचंद्र चरित्र, प्रा० गुज० गद्य संदर्भ, पृ० १२६।
३. सभाशृंगार, पृ० ३१७।
४. वर्णरत्नाकर पृ० २१ तथा ४१।
५. वही, पृ० १२६।
६. डा० मोतीचंद, रत्नपरीक्षा, मैथिलीशरण अभि० ग्रंथ।
७. वर्णरत्नाकर, पृ० २१।
८. पृथ्वीचंद्र चरित्र, १२६।
९. रत्नपरीक्षा पृ० ७३
१०. वर्ण० पोखरावर्णना, पृ० ४१

---

१. शुकवंशपत्रकदलीशिरीषकुसुमप्रभं गुणोपेतम्।
   सुरपितृकार्ये मरकतमतीव शुभदं नृणां विहीतम्।
   —वृहत्संहिता मरकतलक्षणाध्याय।
२. "सीन्दुर मोती लोटाएल अइसन दान्त" सखीवर्णना, वर्णरत्नाकर, पृ० ५।
३. वही, पृ० १०।
४. वही पृ० २१।
५. वर्ण० पृ० ६२।
६. वही, पृ० ६६।
७. सभाशृंगार' पृ० ३१६।
८. वर्णकसमुच्चय, पृ० १३८।

का नाम "कृशन" ऋग्वेद में मिलता है। वेदों में इसकी उत्पत्ति आकाश, समुद्र, सोना और वृत्र से मानी गई है। आकर्षक रत्न होने के कारण इसे कृशन कहा गया। ऋग्वेद की एक ऋचा में मोती सवित्री के रथ में लगा हुआ कहा गया है।[1]

अश्व को भी सजाने के लिए मोती का व्यवहार किया जाता था जैसा अधोलिखित मंत्र से पता लगता है —

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्स उदमृक्षन्त पज्राः॥[2]

(हजार गायों को सामने करके दसों रथों में चौबीस लोहित वर्ण अश्व पंक्ति बद्ध होकर चलने लगे। कक्षीवान् के अनुचर उनके लिए घास आदि जुटाकर इन मोतियों के आभूषणों को धारण किए हुए मदमत्त अश्वों को जो चलने में कभी थकते नहीं मलने लगे।)

वराहमिहिर के अनुसार मोतियों के आठ उत्पत्ति स्थान हैं—हाथी, सांप, सीप, शंख, बादल, बांस, मछली और सूअर।[3] रत्नशास्त्र के अनुसार भी मोती के आठ स्रोत—सीप, शंख, बादल, मकर, सर्प का सिर, सूअर की दाढ़, हाथी का कुंभस्थल, तथा बांस की पोर माने गए हैं। लेकिन सीप का मोती व्यवहार में अधिक आता रहा है। उत्तम मोती नक्षत्र के समान चमकीला, गोल, चिकना, मोटा, छिद्ररहित, चंद्रमा के समान श्वेत, निर्मल और वजन में भारी होता है। उसे ही धारण करने का विधान मिलता है।[4] कौटिल्य ने इसके आठ गुण बताए हैं। उनके अनुसार स्थूल (बड़ा) वृत्त (गोल) तलरहित (जो किसी एक स्थान पर रखने से रुके नहीं) दीप्तिसम्पन्न, उज्ज्वल, भारी, स्निग्ध और देशविद्ध (ठीक स्थान पर छेद किए हुए) मोती प्रशस्त होते हैं।[1] महाकवि कालिदास भी ऐसे ही प्रशस्त, शुभ और मंगलदायक मुक्तादाम को उल्लेख्य समझते हैं। उनके अनुसार पांड्यदेश की प्रसिद्ध नदी ताम्रपर्णी और समुद्र से प्राप्त मोतियों के अन्य उदय स्थान थे। रघुवंश में कवि के वर्णनानुसार दक्षिण के पांड्य राजाओं ने ताम्रपर्णी और समुद्र के संगम से जितने मोती बटोरे वे सब उन्होंने रघु को ऐसे सौंप दिए मानो अपना बटोरा हुआ यश ही उन्हें दे डाला हो।[2]

प्राचीन समय में मोतियों की लड़ी को यष्टि कहते थे। लड़ी या लर यष्टि शब्द का ही रूपान्तर है। यष्टि, लट्ठि, लड़ी, लर।[3] कौटिल्य ने मोतियों की संख्या के अनुसार अनेक मौक्तिक-आभरणों की चर्चा की है। इन्द्रच्छद में १००८, विजयच्छद में ५०४, देवच्छद में १००, अर्द्धहार में ६४, रश्मिक्लाप में ५४, गुच्छक में ३२, नक्षत्रमाल में २७, अर्द्धगुच्छक में २४, माणवक में २० और अर्द्धमाणवक में १० मोती होते थे।[4] मोती के कौटिल्य ने निम्नांकित तेरह दोष गिनाए हैं—१—मसूरक (मोती का मसूर जैसी आकृति का होना), २. त्रिपुटक (तिकोना), ३. कूर्मक (कछुए जैसा), ४—अर्धचन्द्रक (अर्धचन्द्राकार), ५—कंचुकित (जिस मोती पर छाल जैसी लगी हो), ६—यमक (जुड़वा जैसा), ७—कर्त्तक (कटा या टूटा हुआ), ८—खरक (खुरदरा), ९—सिक्थक (मोम के समान बिंदुयुक्त), १०—कामंडलुक (कमंडलु जैसी आकृति का), ११—श्याव (कपिश अथवा धुंधले रंग का), १२—नील (नीलवर्ण) और १३—दुर्विद्ध (अनुचित ढंग से बिंधा हुआ) इतने प्रकार के मोती अप्रशस्त माने गए थे।

भावप्रकाश की टीका के अनुसार रंगमें फीका, टेढ़ा चिपटा, ललोई लिए, मछली की आँख के समान, ऊँचा-नीचा

---

१. अभीवृतम् कृशनैर्विश्वरूपम् हिरण्यशम्यतम् यजतो वृहन्तम्। आस्थाद्रथम् सविता चित्रभानुः कृष्ण रजांसि तविषीम् दधानः॥ ऋक्-१, ३५, ४।
२. ऋक् —१,१२६, ४।
३. बृहत्संहिता, अ० ८१, श्लोक १।
४. भावप्रकाश, धात्वादि०, १८५।

१. अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० ११।
२. ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥
रघुवंश, ४।५०।
३. डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : कालिदास द्वार वर्णिते प्रसाधन सामाग्री, प्रज्ञा, बनारस हिन्दू युनि० जर्नल, भाग ४, वर्ष १९५९, पृ०, ८०।
४. अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० ११।

मोती उपयोग में नहीं लाना चाहिए।[1]

वराहमिहिर ने मोतियों के आठ आकर स्थान इस प्रकार बताए हैं[2] —(१)—सिंहलक देश, (२)—परलोक देश, (३) सुराष्ट्र देश (४) ताम्रपर्णी नदी, (५)—पारशव देश' (६)—कौबेर देश, (७) पाण्ड्यवाटक देश और (८)—हिमालय। इन स्थानों की पहचान डा० मोतीचन्द्र के अनुसार इस प्रकार मिलती है—[3]

१. सिंहल—मोती के सीप सिंहल के [illegible]-पश्चिम तट से हटकर तूतीकोरिन के आस-पास मिलते हैं।
२. परलोक—इसी को शायद ठक्कुरफेरू ने रामावलोक कहा है। मध्यकाल में अरब के भौगोलिक पैगू को रह्मादेश कहते थे। रामा से पेगू की पहचान की जा सकती है। यहाँ सलंग लोग मोती निकालते हैं।
३. सुराष्ट्र—गुजरात में काठियावाड़ के समुद्र तट से पहले निकाले जाते थे।
४. ताम्रपर्णी - ताम्रपर्णी से मनार की खाड़ी से मतलब है। ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर पहले कोर के बन्दरगाह पर, बाद में उसके भर जाने से उसके दक्षिण पांच मील पर कायल बन्दरगाह से मोती निकाला जाने लगा।
५. पारशववास—इससे फारस की खाड़ी से मतलब है। यहाँ मोती बहुत प्राचीन काल से मिलते हैं। मेगस्थनीज तथा टालमी ने भी इसका उल्लेख किया है।
६. कौबेरवाट—संभव है चोलों की सुप्रसिद्ध राजधानी कावेरीपट्टीनम् अथवा पुहार से मतलब हो।
७. पाण्ड्यवाटक—इससे शायद मथुरै का मतलब है, जहाँ मोती का खूब व्यापार चलता था।
८. हिम (हिमालय) भी प्राचीन काल में मोती की प्राप्ति का एक स्रोत था।

कौटिल्य के अनुसार मोती उत्पन्न होने के दस क्षेत्र बताए गए हैं। उन उत्पत्ति क्षेत्रों के नाम पर ही मोती के भी भिन्न-भिन्न नाम पड़ते थे।[1]

१. ताम्रपर्णिक—पाण्ड्यदेश की ताम्रपर्णी नदी का जहां समुद्र से संगम होता है, उस स्थान पर उत्पन्न मोती।

२. पांड्यकपाटक अर्थात् पांड्यदेश के मलय कोटि नामक पर्वत के निकटस्थ सरोवरों से।

३. पाशिक्य —अर्थात् पटना के पास की पाशिका नदी में जायमान।

४. कौलेय—अर्थात् सिंहलद्वीप की कुला (उला) नाम की नदी में उत्पन्न।

५. चौर्णेय—तर्थात् केरल की चूर्णा नदी में उत्पन्न।

६. माहेन्द्र—अर्थात् महेन्द्र पर्वत के समीपवर्ती समुद्र में उत्पन्न।

७. कार्दमिक—अर्थात् ईरान देश की कर्दमा नदी में उत्पन्न।

८. स्रोतसीय—अर्थात् बर्बर (बबिलोनिया या बाबुल) समुद्रतटवर्तिनी स्रोतसी नदी में उत्पन्न।

९. ह्रादीय—अर्थात् बर्बर समुद्र के तट पर विद्यमान श्रीघंट नामक सरोवर में उत्पन्न (बाबुल की श्रीघंट नामक झील)।

१०. हैमवत – अर्थात् हिमालय पर उत्पन्न।

ज्योतिरीश्वर को इनमें से किसी विशेष मोती पर आसक्ति नहीं। प्रशस्त मोतियों को ही उल्लेख योग्य समझते थे।

ठक्कुरफेरू के अनुसार रामवलोइ, बब्बर (लालसागर का अफ्रीकी तट), सिंहल, कांतार, पारस, केसिय (आधुनिक तहीरी के पास) और समुद्र तट से मोती आते थे। कैस के गोताखोरों द्वारा मोती निकालने का आंखों देखा वर्णन इब्नबतूता ने किया है। सिंहलदेश में अनेक आकृति वाले, स्निग्ध, हंस के समान सफेद और स्थूल मोती होते हैं। ताम्रपर्णी नदी में कुछ लाल, सफेद और निर्मल मोती होते हैं। परलोक देश में काले, सफेद, पीले, कंकड़युक्त और विषम मोती होते हैं सौराष्ट्र देश में न बहुत मोटे न बहुत

---

१. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२६।
२. वृहत्संहिता, अ० ८१, श्लोक २।
३. डा० मोतीचंद्र, रत्नपरीक्षा, मैथिलीशरण अभिनन्दन ग्रन्थ।

१. अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० ११।

छोटे और मक्खन के समान कांति वाले मोती होते हैं। पारशव देश में तेजोयुक्त, सफेद, भारी और अधिक गुण वाले मोती होते हैं। हिम में छोटे, जर्जर, दही के समान कान्ति वाले, बड़े और श्रेष्ठ आकृति वाले मोती होते हैं। कौबेर देश में विषम, काले, सफेद, हलके और अति तेजस्वी मोती होते हैं। पाण्ड्य देश में निम्ब फल के समान, तीन पुटों से युत धान्याक फल के समान और अति सूक्ष्म होते हैं।

मोतियों की विशेषताएँ जो वराहमिहिर ने बताई हैं, वे यहाँ उल्लेखनीय हैं—

अलसी पुष्प के समान श्याम वर्ण के मोतियों का देवता विष्णु, चन्द्र की कांति के समान मोती का देवता इन्द्र, हरिताल के समान मोती का देवता वरुण, काले वर्ण के मोती का देवता यम, पके हुए अनार के बीज के समान रक्त वर्ण वाले मोती का देवता वायु तथा धूम रहित अग्नि या कमल के समान कांति वाले मोती का देवता अग्नि है।

ठक्कुरफेरू के अनुसार शंखजन्य मोती छोटे, लाल तथा सफेद होते हैं और उनमें मंगल का आवास होता है। मच्छ से उत्पन्न मोती काला, गोल तथा हल्का होता है और उसके पहनने से शत्रु और भूत-प्रेतों से रक्षा होती है। बांस में पैदा मोती गुंजे के दाने के समान बड़े तथा राज देने वाले होते हैं। सूअर की दाढ़ से पैदा मोती गोल, चिकना और साखू के फल जितना बड़ा होता है। उसके पहनने से सर्वोपद्रव तथा बिजली से रक्षा होती है। बादल में पैदा मोती तो देवता वहीं रोक लेते हैं। चिन्तामणि मोती वह है, जो बरसते पानी की एक बूंद हवा से सूख कर मोती हो जाय। सीप के मोती छोटे और मूल्यवान होते हैं।

राजावर्त्त—(अं० लैपिस लैंजुली Lapis Lauznli)—हिन्दी में इसे रेवटी, रावटी और लाजवर्द, बंगला में राजावर्त और मैथिली में लाजवर्त कहते हैं। इसके संस्कृत नाम राजावर्त्त, नृपावर्त्त राजन्यावर्त्तक, आवर्त्तमणिसंज्ञक, आवर्त्त (आवर्त्तक) आदि हैं।[१] वराहमिहिर की रत्नसूची में लिखित राजमणि इससे तुलनीय है।

१. राजावर्तो नृपावर्तो राजन्यावर्त्तकस्तथा। आवर्त्तमणि संज्ञश्च ह्यावर्तोपि-त्तथैव च। भावप्रकाश, धात्वादि वर्ग, १४३।

राजावर्त्त वस्तुतः एक उपरत्न है, लेकिन पता नहीं ज्योतिरीश्वर ने उसकी गणना रत्नों में किस प्रकार की। यह रत्न समतल, काला, नीलवर्ण, भारी, निर्मल, बहुत छायायुक्त, मोर की गर्दन का-सा रंग और सौम्य जातिमान् होता है। कुछ-कुछ लाल और अधिक नीलिमामिश्रित, वजन में भारी, चिकना, चकचकाहटयुक्त ऐसा लाजवर्द उत्तम माना गया है। इसमें सोने के कण ऐसे लगते हैं मानो नीले आकाश में चमकते तारे हों।

रेणुज[१] (वैक्रान्तमणि)—रेणुज को चुनी मान लेने से यह वैक्रान्त सिद्ध हो जाता है क्योंकि, बंगला में चुनि-विशेष को वैक्रान्त कहा गया है। इसे ही गोनस या गोनास भी कहा जाता है।

अनुश्रुति के अनुसार जब महिषासुर और देवताओं में घोर युद्ध हुआ तब भगवती के वज्र मारने से उस दैत्य की देह से जहां-जहां पृथ्वी और पर्वतादिकों में रुधिर गिरा वहां-वहां हीरा के समान वैक्रान्तमणि प्रकट हुआ। देवताओं ने इसको वज्र संज्ञा दी। यह विन्ध्याचल के दक्षिण भाग में तथा उत्तर में सर्वत्र मिलता है। यह लोहे को विकृत करता है इसलिए इसको वैक्रान्त कहते हैं। महिषासुर को वज्र से मारे जाने पर जो उसके मस्तक के रुधिर से बना वह ब्राह्मण वर्ण, भुजा से क्षत्रिय वर्ण, नाभि से वैश्य वर्ण और पैर के रुधिर से शूद्र वर्ण का वैक्रान्त प्रकट हुआ।

आठ कोने, आठ पहल और छः कोने छः पहल वाला, चमचमाहट युक्त, भारी, चिकना, शुद्ध और मिश्रित वर्ण-वाला वैक्रान्त उत्तम होता है। सफेद, लाल, पीला, कबूतर के समान वर्ण वाला, मोर के कंठ के समान नीली कांति-वाला, श्यामवर्ण, काला और चितकबरा, इन रंगों के भेद से वैक्रान्त आठ प्रकार का होता है। काला वैक्रान्त शरीर को अजर अमर करनेवाला है। पीला-सोना आदि बनाने के काम में आता है। सफेद से चांदी बनाई जाती है। लाल और मरकतमणि के समान वर्ण वाले वैक्रान्त को शरीर में धारण करने से सम्पूर्ण अर्थसिद्धियां प्राप्त होती हैं। शेष नीले और कबूतर के समान वर्णवाले वैक्रान्त निष्फल होते हैं। इसलिए उनको ग्रहण करना नहीं चाहिए।

१. वर्ण रत्नाकर, रत्नवर्णना, पृ० २१।

इस समय के कितने वैद्य तुरमली को वैक्रान्त कहते हैं। काश्मीर प्रान्त का पाडर स्थान, जांस्कर, बिहार के हजारीबाग और ब्रह्मदेश में अच्छी तुरमली मिलती है। कावेरी नदी की रेत में भी इसके कभी-कभी टुकड़े पाए जाते हैं।

उसी तरह तो तुरमली काली, लाल, नीली, हरी, पीली, पिंगल, गुलाबी, मोतिया, धानी कई प्रकार की देखी जाती है, परन्तु जो काश्मीर प्रान्त से आती है वह बहुधा हरी, धानी, नीले वर्ण की ही होती है। इसी प्रकार हजारीबाग में प्राप्त होनेवाली तुरमली का वर्ण भी हरा, नीला ही होता है। कहीं-कहीं पिंगल वर्ण की भी मिली है। इससे भिन्न और वर्ण की इस देश में नहीं देखी गई। हां, ब्रह्मा में कई वर्ण की निकलती है। फिर भी शुभ्र नहीं मिलती। तुरमली एक समान अठपहलू या षट् पहलू नहीं होती बल्कि छोटे-छोटे टुकड़े भिन्न-भिन्न आकार के देखे जाते हैं और कोई-कोई पहलदार भी होती है परन्तु इसके पहल कृत्रिम से होते हैं। काश्मीरी तुरमली कुछ-कुछ षट् पहलू होती है। परन्तु स्पष्टरूप से यह षट्पहलू या अठ-पहलू नहीं दीख पड़ती। कोई-कोई विद्वान स्फटिक मणि अर्थात् बिल्लौर को ही वैक्रान्त मणि मानते हैं।

वैदूर्य (अं० Cats Eye कैट्स आई)—वैदूर्य को हिन्दी में वैडूर्यमणि या लहसुनिया कहा जाता है। संस्कृत में इसके वैदूर्य, दूरजरत्न तथा केतुग्रहवल्लभ नाम मिलते हैं। वर्णरत्नाकर के समुद्र-वर्णन प्रकरण में रत्नों के बीच इसका वर्णन मिलता है।[1] वर्णकसमुच्चय के वर्णक में वैदूर्य[2] और सभाशृंगार,[3] पृथ्वीचंद्रचरित्र[4] तथा ठक्कर-फेरू कृत रत्नपरीक्षा[5] में वैडूर्य पाठ मिलते हैं। प्राचीन समय में वैदूर्य वालवाय पर्वत में मिलता था और विदूर में कमाया तथा बेचा जाता था। यह पर्वत दक्षिण भारत में था। बुद्धभट्ट[1] के अनुसार विदूर पर्वत दो राज्यों की सीमा पर स्थित था। पहला देश कोंग है, जिसकी पहचान आधुनिक सेलम, कोयंबटूर, तिन्नेवेली और ट्रावंकोर के कुछ भाग से की जाती है। दूसरे राज्य का नाम बालिक, चारिक या गोलक आता है, जिसे श्री फिनो 'चोलक' मानते हैं, जिसकी पहचान चोलमंडल से की जा सकती है।

जिसका रंग कालापनयुक्त सफेद हो, समतल अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा न हो, निर्मल, वजन में भारी, तेजवान् और जिसके भीतर सफेद रंग की रेखा दिखाई देती हो, ऐसा वैदूर्यमणि उत्तम होता है और जो काले रंग का हो, कान्तिहीन, चपटा, हलका, खरदरा और जिसके भीतर लाल रंग की रेखा दीखती हो ऐसा वैदूर्यमणि निकृष्ट होता है।[2]

वैदूर्य अनेक प्रकार का होता है। उनमें **क्राइसो बेरिल** (Chryso Beryl) सबसे मूल्यवान् है। बिल्ली की आंखों में जैसी चमकती रेखाएं होती हैं वैसा ही रेखाएं, इसको काटने पर बाह्य गोल भाग पर दीखती है।[3] **क्वार्ट्ज** Quartz नामक पत्थरों में सामानान्तर रेखाओं से भी यही दृश्य उपस्थित होता है। ऐसा ही असर क्रोसिडोलाइट में भी होता है।,[4] इसे ही लसणिया भी कहा गया है।[3] नीला, पीले, लाल और सफेद रंग की लहसनिया ठक्कुर फेरू के अनुसार सिंहलद्वीप से आती थी।[5] विडालवक्ष भी इसे ही कहा गया है।

सूर्यकान्त (अं० **मैग्निफाइंग ग्लास** Magnifying glass)—वर्णरत्नाकर में सूर्यकान्तमणि को रत्न कहकर रत्नवर्णन[5] तथा समुद्रवर्णन[6] के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है। हिन्दी में इसे आतसी सीसा या चकमक शीशा कहा जाता है।

---

१. वर्ण० पृ० ५५।
२. वर्णकसमुच्चय, भाग १, पृ० १३८।
३. सभाशृंगार, विभाग १०, वर्णक ६७, ६८, ६९, ७०, पृ० ३१६-१७।
४. पृथ्वीचंद्रचरित्र, पृ० १२९।
५. रत्नपरीक्षा।

---

१. बुद्धभट्ट कृत रत्नपरीक्षा, १९९।
२. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२६।
३. मिनरेलाजी, डाना एण्ड फोर्ड।
४. उपरिवत्-सभा भाग २, पृ० ६६।
५. सभाशृंगार, भाग २, पृ० ६६।
६. ठक्करफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ९२-९३।

चिकना, व्रणरहित, निस्तुष, घिसने से आकाश के समान स्वच्छ, सूर्य की किरणों में रखने से जो जल उठे उसको जातिवंश सूर्यमणि कहते हैं। यह एक प्रकार का शीशा है जो सूर्य को देखने से अग्नि प्रकट करता है और स्वयं अग्नि की ताप को सहन करता है। इससे छोटी चीज बड़ी दीख पड़ती है। पृथ्वीचंद्रचरित्र (१२९), सभाश्रृंगार (पृ० ३१६-१७) तथा वर्णकसमुच्चय के रत्नवर्णन में यह उल्लिखित है।

चन्द्रकान्त (मून स्टोन)—इस मणि का उल्लेख भी रत्नवर्णन के प्रसंग में "रत्नवर्णना" तथा "समुद्रवर्णना" प्रकरणों में हुआ है।[3] यह रत्न इसी नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह चिकना और सफेद होता है। इसके ध्यान मात्र से मुनीश्वरों के अन्तःकरण में शान्ति प्राप्त होती है। चन्द्रमा की किरणों में जिससे अमृत रूपी जल टपके वही असली चन्द्रकान्तमणि है।[4] बृहत्संहिता (रत्नपरीक्षाध्याय), पृथ्वीचंद्रचरित्र (पृ० १२९), सभाश्रृंगार (३१६-१७) तथा वर्णकसमुच्चय (भाग १, पृ० १३८) के रत्न प्रकरणों में इसका उल्लेख है। सभाश्रृंगार के वर्णक में इसके चंद्र-कान्ति, चंद्रप्रभ और वर्णरत्नाकर में शशिकांत पाठ भी मिलते हैं।[5]

स्फटिक—(हिं० बिलौर, फटिकमणि, अरबी इजरुल बिलौर)—ज्योतिरीश्वर ने स्फटिक की चर्चा उपरत्नों में की है।[6] स्फटिक (बिल्लौर) एक प्रकार का सफेद पत्थर है जो कांच के समान चिकना और स्वाद में फीका होता है। यह काश्मीर, कुल्लू, शिमला, स्पिती आदि उत्तरीय प्रान्तों में पाया जाता है। इससे भिन्न सतपुरा पहाड़, विन्ध्याचलपर्वत श्रेणी के उत्तर-दक्षिण हर एक ओर मिलता है। यह प्रायः कांचवत् शुभ्र पारदर्शक होता है। जिन जगहों से शुभ्र बिल्लौर मिलता है, वहां ही दूधिया रंगदार बिल्लौर भी पाया जाता है। काला, गुलाबी, हरा, भूरा, बैंगनी, धानी आदि कई प्रकार का देखा जाता है। प्रत्येक वर्ण का बिल्लौर हर प्रान्त में थोड़ा बहुत पाया जाता है। साफ, सफेद, दूधिया तो बहुत मिलता है।

हर प्रकार के बिल्लौर की बनावट पहलूदार होती है। उन्नत भाग प्रायः षट् पहलू या अठ पहलू होता है। तल भाग जो किसी बिल्लौरी पत्थर से जुड़ा रहता है वह बिना पहलू बेडौल भी होता है। इसके छोटे-छोटे स्वच्छ षट् पहलू, अठ पहलू आदि पहलुओं का रूप हीरे की कनियों से मिलता है और धूप में वैसा ही चमकता है जैसा कि हीरा चमकता है।[1]

वर्णरत्नाकर में समुद्रवर्णन प्रकरण में तो स्फटिक को रत्नों के बीच माना है[2] और शेष दो स्थानों पर वर्ण-रत्नाकर में स्फटिक को उपमणियों में गिनाया है।[3] लेकिन प्राचीन रत्नशास्त्रों के अनुसार स्फटिक के दो भेद यानी सूर्यकान्त और चन्द्रकांत माने गए हैं। ज्योतिरीश्वर कालीन रत्नपरीक्षा नामक प्राकृत ग्रन्थ का लेखक ठक्कर-फेरू जो अल्लाउद्दीन के टक्साल और खजाने से संपर्कित था, स्फटिक के भेदरूप में ही चंद्रकान्त और सूर्यकांत को मानता है। वर्णरत्नाकर में तो सूर्यकांत और चंद्रकान्त को रत्नों के बीच और स्फटिक को उपरत्नों में गिनाकर इनमें स्पष्टतः भेद दिखाया गया है। अगस्तिमत के क्षेपक, सभा-श्रृंगार[4] और पृथ्वीचंद्रचरित्र[5] में जलकांत और हंसगर्भ का भी उल्लेख मिलता है। सूर्यकान्त से आग और चंद्र-कान्त से अमृतवर्षा की अनुश्रुतियों की भाँति ही जलकाँत से पानी निकलना और हंसगर्भ से विष का नाश होना माना जाता था। मानसोल्लास के अनुसार स्फटिक के स्थान थे—लंका, ताप्ती नदी, विन्ध्याचल और हिमालय। ठक्करफेरू ने नेपाल, काश्मीर, चीन, कावेरी नदी, यमुना

---

१. वर्णरत्नाकर, पृ० २१।
२. वही, पृ० ५५।
३ उपरिवत्।
४. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका पृ० ४२९।
५. सभाश्रृंगार, रत्नवर्णक २ तथा ३,५, वर्ण समुद्रवर्णन, पृ० ५५।
६. वर्णरत्नाकर, उपमनिवर्णना, पृ० २१।

---

१. भावप्रकाश, विद्योतिनी टीका, पृ० ४२९।
२. वर्णरत्नाकर, पृ० ५५।
३. वही, पृ० २१, ४१।
४. सभाश्रृंगार, पृ० ३१६-१७।
५. पृथ्वीचंद्रचरित्र, पृ० १२९।

और विन्ध्य पर्वत से स्फटिक का आना बताया है।

अंग्रेजी में स्फटिक को क्वार्टज कहा जाता है। एडवार्ड सेलिसबरी डाना तथा विलियम फोर्ड ने इस पत्थर को पारदर्शक और अपारदर्शक (ट्रांसपेरैंट एण्ड ओपेक) दोनों ही माना है और इसे 'सेमी प्रेसस' बताया है[1]। बिल्ली की आँखों की पुतलियों में चमकती रेखाओं सा दृश्य क्वार्ट्ज के पत्थरों में भी परिलक्षित होता है।

हीर (हीरा)[2]=अं० डायमण्ड, Pure Carbon Adams ले० प्योर कार्बन एडम्स)। इसके संस्कृत नाम हीरक, वज्र, चन्द्र और मणिवर हैं। सफेद रंग का हीरा ब्राह्मण, लाल रंग का क्षत्रिय, पीला वैश्य और असित रंग का शूद्र वर्णवाला होता है। यह बहुत मूल्यवान् और प्रसिद्ध खनिज रत्न है। यह रत्न दक्षिण के पूर्व भाग में पिन्नर से सोन तक, मद्रास विभाग में कड़ड़ापा, करनूल, इल्लौर, कृष्णा और गोदावरी की तलहटी में तथा बुन्देलखंड की खानों में कभी-कभी मिल जाता है। पुराणों में हीरे की उत्पत्ति दो प्रकार की कही गई है।

१—विश्वकर्मा ने इन्द्र के निमित्त वृत्रासुर को मारने के लिए दधीचि की हड्डी से वज्र बनाया था, उसके बनाने में जो हड्डियों के कण पृथ्वी पर गिरे वही काल पाकर हीरा के नाम से विख्यात हो गये।

२—समुद्रमंथन से उत्पन्न अमृत को जब देव और दानव पीने लगे उस समय उनके मुख से अमृत की बूंदे पृथ्वी पर गिरीं वे ही सूर्य की किरणों से सूख कर वज्र (हीरा) हो गई।

हमारे देश में प्राचीन खानों (पन्ना स्टेट, सम्बलपुर, कर्नूल) प्राप्त होने से वाले हीरे प्रायः स्फटिकवत् शुभ्र हुआ करते थे। कहीं-कहीं नीला, भूरा, श्याम, बैंगनी, पिंगल, कपिल, अरुण आदि रंगों का भी हीरा देखा गया है। ये हीरे षट्पहलू, अष्टपहलू और गोल भी होते थे। आयुर्वेद

१. ए टेक्स्ट बुक आफ मिनरेलाजी, एशिया पब्लिशिंग, १९६० सं० पृ०
२. 'हीरे' 'वर्णरत्नाकर पृ १०, २१, ६२,६६।

के अनुसार हीरे की भस्म आयु, पुष्टि, बल, वीर्य, सौंदर्य और सुख की वृद्धि करती हैं।[1]

जवाहिरात में हीरे का कई स्थानों पर वर्णरत्नाकर में प्रयोग होना[2] उस समय में उसकी प्रभूतता को भी सिद्ध करता है। पृथ्वीचन्द्र चरित्र,[3] वर्णक समुच्चय,[4] और सभाश्रृंगार[5] में हीरा के लिए 'वज्र' शब्द ही आया है।

वराहमिहिर के अनुसार वेणानदी के तट पर विशुद्ध हीरा, कौशल देश में शिरीष पुष्प के समान, सौराष्ट्र देश में कुछ लाल, सूरपारक देश में काला, हिमवान पर्वत पर कुछ लाल, मतंगदेश में वल्ल पुष्प के समान, कलिंग देश में पीला और पौण्ड्र देश में श्यामवर्ण का उत्पन्न होता था।[6]

कौटिल्य के कथनानुसार उत्पत्तिस्थान-विशेष के अनुसार वज्र (हीरा) छः प्रकार का होता थाः[7]

१- सभाराष्ट्रक—विदर्भ के सभाराष्ट्र नामक स्थान में मिलने वाला।
२- मध्यमराष्ट्रक—कोसल प्रदेश के मध्यम राष्ट्र नामक स्थान में प्राप्त होने वाला।
३- कास्मीरराष्ट्रक—काश्मीर में जायमान।
४- श्रीकटनक—श्री कटनक नामक पर्वत पर उत्पन्न
५- मणिमन्तक—मणिमन्त पर्वत पर उत्पन्न।
६- इन्द्रवानक—कलिंग देश में इन्द्रवान नामक पर्वत पर उत्पन्न।

खान, जल प्रवाह और हाथी के दांत के मूल भाग में हीरे की उत्पत्ति होती थी। हीरे के निम्न प्रसिद्ध रंग होते थे—

१. भावप्रकाश, धात्वादि० १७९।
२. उपरिवत्।
३. पृथ्वीचन्द्र चरित्र, रत्नसूची, क्र० ९, पृ० १२९।
४. वर्णकसमुच्चय, रत्नजातिनामानि, क्र० ४, पृ० १३८।
५. सभाश्रृंगार, रत्नवर्णक १, पृ० ३१६।
६. वृहत्संहिता, अ० १०।
७. अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ११।

१- मार्जाराक्षक—बिलाव की आँखों जैसे रंग का।
२- शिरीषपुष्पक— सिरिस के फूल के रंग का।
३- गोमूत्रक=गोमूत्र सदृश।
४- गोमेदक – गोरोचन के रंग का।
५- शुद्धस्फटिक—स्फटिक मणि अर्थात् बिल्लौर की नाईं श्वेत वर्ण।
६- मूलाटी पुष्पक वर्ण—मूलाटी के फूल जैसे रंग का।

उत्तम श्रेणी के हीरे का विवरण अर्थशास्त्र में इस प्रकार मिलता है—स्थूल (बड़ा), स्निग्ध (चमकीला), गुरु (भारी), प्रहारसह (किसी वजनी हथौड़े आदि के प्रहार से भी न टूटनेवाला) तर्कुभ्रामि (चर्खे में लगे तकुए के समान भ्रमणशील) और भ्राजिष्णु (अतिशय देदीप्यमान)।[1]

ठक्कुरफेरू ने हीरे के आठ गुण कहे हैं—समफलक, उच्चकोणी, तीक्ष्णधारा, पानी (वारितक), अमल, उज्ज्वल, अदोष और लघुतोल।[2] वराहमिहिर के मत से जो हीरा किसी वस्तु से न टूटे, अल्पजल में भी किरण की तरह तैरता रहे, निर्मल, बिजली, अग्नि या इन्द्रधनुष के समान वर्णवाला हो वह कल्याणकारी होता है।[3] भूतत्व विज्ञ एडवर्ड सेलिसबरी डाना तथा विलियम ई० फोर्ड के अनुसार सबसे अच्छा हीरा पूर्ण पारदर्शक, चमकदार और सफेद होता है। यह अधिकतर अफ्रीका और ब्राजिल में पाया जाता है।[4] प्राचीन रत्नशास्त्रों के अनुसार अच्छे

१. वही।
२. रत्नपरीक्षा, २४।
३. बृहत्संहिता अ० ८० श्लोक १४।
४. मिनरेलाजी, १९६०, सं०, पृ० ३९५।

हीरे में छः कोण, बारह धाराएं, आठ दल, पार्श्व या अंग कहे गए हैं। हीरे की चोटी को कोटि, तल को विभाजित करने वाली रेखा को अग्र, चोटी की उठान को उत्तुंग तथा नुकीली विभाजक रेखाओं को तीक्ष्ण कहते थे।

बृहत्संहिता के अनुसार काकपद और मक्खी के समान चिह्नवाला, केश के समान रूपरेखा वाला, धातुओं से युक्त, कंकड़ से विद्ध, लक्षण से दूना कोण वाला, आग से जला, मलिन, कान्तिहीन, जर्जर पानी के बुलबुले के समान आगे से फटा, चिपटा और वासी फल के समान लम्बा हीरा शुभदायी नहीं होता।[1] मध्यकालीन रत्नशास्त्रों में भी हीरे के अनेक दोष बताए गए हैं, जिनमें टूटी चोटी या पहल, एक की जगह दो कोण, दलहीनता, वर्त्तुलता, चपटापन, लंबोदरापन, भारीपन, बुलबुला पड़ना और कांतिहीनता मुख्य हैं।

उपर्युक्त दोषों से हीन हीरे जिन घरों में होते हैं, उनकी विघ्नबाधा, अकाल मृत्यु और शत्रुभय से रक्षा होती है। लाल और पीले हीरे पहनने से राजा को विजयश्री हाथ लगती है।[2] बुद्धभट्ट के अनुसार सुराष्ट्र, हिमालय, मातंग, पौंड्र, कौशल, वेण्यातट और सूपरि में हीरे की खानें थीं। अगस्तिमत से बंग और वेणु में, मानसोल्लास के अनुसार मातंग, वैरापर और सौपार में, रत्नपरीक्षा के अनुसार मगध में, रत्नसंग्रह के अनुसार मातंग और अरब में तथा ठक्कुरफेरू के मत से हेमन्त (हिमवंत), मातंग, पंडुर, वेणु और सोपारक में हीरे की खानें थीं।

१. बृहत्संहिता अ० ८०, श्लोक १५-१६।
२. ठक्कुरफेरू कृत रत्नपरीक्षा, ३०।

—: ०: —

डॉ० श्रीमती भाग्यवती सिंह
ए, १९-७३ चौहट्टा लाल खां,
राजघाट, वाराणसी-१

आधुनिक हिन्दी कविता पर गाँधी जी का प्रभाव

"युग परिवर्तक, युग संस्थापक,
युग संचालक, हे युगाधार !
युग निर्माता, युग मूर्ति तुम्हें,
युग युग तक युग का नमस्कार।।"
सोहनलाल द्विवेदी

निर्माण के पलों का सृजन महात्मा के चरणों से होता है। जलज और जीवन को लहरों से अलग कहें या लहरों में ? प्रकाश की किरणें तिमिर में कहें या तिमिर से भिन्न ? दीपक दिन में नहीं रात में प्रकाश करता है। उजाला यह नहीं देखता कि अंधेरे पर प्रकाश क्यों कर रहा हूँ ? वह तो महल हो या खंडहर; सभी पर अपनी किरणें बिखेरता है। दीपमालिका की रात्रि अंधेरी होते हुए भी पूज्य है, क्योंकि प्रकाश ने उसे स्वयं में एकात्म कर लिया होता है। और जब प्रकाश तम का तादात्म्य स्वयं में कर लेता है तभी तो दिन निकलता है। रात दिन में समा जाती है। आलिंगन में बँधी हुई वह किसी को भी दिखलायी नहीं देती तथा जब दिन दूर चला जाता है तो रात जगती हुई ओस के आंसू बहाती है। अंधकार के अत्याचारों में वह अग्नि परीक्षा देती है। बस तभी विरह वेदना में पिघला प्रकाश महामानव के रूप में दर्शन देता है। उन प्रकाशमान पगों के आते ही धरती पर अंधेरा मिट जाता है। ऐसे ही प्रकाश थे महात्मा गाँधी। जिनके प्रकाशमान पगों के आते ही पराधीनता का अंधकार समाप्त हो गया।

समय ने अनेक आवर्तन और परिवर्तन देखे हैं। बड़े-बड़े पद चिह्न हैं इस पृथ्वी पर। बड़े-बड़े आदर्श पुरुष हुए हैं यहाँ, जिनमें एक सर्वोत्मुखी आदर्श हैं महात्मा गाँधी। उनके हृदय के मधु में मधुरिमा से अधिक मधुर संजीवन है। उनकी भाषा में शाश्वत भावनायें हैं। उनकी रसना पर सरस्वती विराजती हैं। उनकी बुद्धि में बुद्ध हैं। उनमें वह सभी कुछ है जिसे हम सद् कह सकते हैं। वह स्वयं दीपक बनकर जले तथा जगत को प्रकाश देते रहे।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के महान व्यक्तित्व की छाप न केवल राजनीति और अध्यात्म दर्शन पर पड़ी; वरन् भारतीय साहित्य भी उससे पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ ! हिन्दी कवियों ने प्रभावित होकर बापू के गुण गान से काव्य भंडार की श्री वृद्धि की। गाँधी जी के विचार, व्यक्तित्व तथा आदर्शों ने आधुनिक हिन्दी कविता को पूर्ण रूपेण प्रभावित किया। यहाँ पर कुछ प्रमुख कवियों की रचनाओं पर गाँधी जी के प्रभाव का विश्लेषण किया जा रहा है।

गाँधी जी से हिन्दी कविता केवल प्रभावित नहीं हुई, अपितु कवि ने उनकी जय जयकार कर उन्हें अपना आराध्य देव भी माना। **मैथिलीशरण गुप्त** गाँधी जी की जय जयकार करते कहते हैं:—

"नया पन्ना उलटे इतिहास, हुआ है नूतन वीर्य विकास
विश्व तूले सुख से निश्वास, तुझे हम देते हैं विश्वास।
आत्म बल धारण कर अनमोल, महात्मा गाँधी की
जय बोल।।"[1]

गाँधी जी धर्म की ऐसी प्रतिमूर्ति थे जहाँ पर भय नाम की कोई वस्तु नहीं होती। गुप्त जी ने इस

१. 'आज', (दैनिक समाचार पत्र, वाराणसी) ४ अक्टूबर, १९६४

धर्म को इस प्रकार रखा:—

"धर्म तुम्हारी और तुम्हें, फिर किसका भय है।
जीवन ही नहीं, मरण में भी निज जय है।।"[1]

गुप्त जी महात्मा जी के स्वदेशी आंदोलन से प्रभावित हो इस प्रकार कह रहे हैं:—

"यदि हम विदेशी माल से, मुंह मोड़ सकते हैं नहीं।
तो हाय! उसका मोह भी; क्या? तोड़ सकते हैं नहीं।।[2]

गाँधी जी ने ब्रह्मचर्य के नियम पालन पर बल दिया। कवि की भी इस व्रत में पूर्ण निष्ठा है। इस व्रत की सार्थकता बतलाते हुए वे कहते हैं:—

"दुर्भाग्य से अब एक तो वह ब्रह्मचर्याश्रम नहीं,
तिस पर परिश्रम व्यर्थ यह पड़ता हमें कुछ कम नहीं,
फिर शीघ्र ही चश्मा हमारे चक्षु चाहें क्यों नहीं।।"[3]

महात्मा जी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की आवश्यकता समझी। गुप्त जी भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं: –

"है राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश में कोई नहीं।
हम निज विचार जना सक जिससे परस्पर सब कहीं।"[4]

राष्ट्रकवि 'यशोधरा' में यशोधरा तथा राहुल के वार्तालाप में बड़ी कुशलता से अहिंसा के पक्ष में अपने तर्क देते हैं। यशोधरा में राहुल अपनी माँ से एक कहानी कहने का आग्रह करता है। इस पर यशोधरा राहुल को सिद्धार्थ के जीवन की ही एक घटना कहानी के रूप में सुनाती है। यशोधरा राहुल से कहती है कि—"ले बेटा कहानी सुन! एक दिन प्रातःकाल तेरे पिता उपवन में घूम रहे थे। वहाँ अति सुगंधित वायु प्रवाहित हो रही थी। तरह-तरह के रंग-बिरंगे फूल खिले थे। अचानक ऊपर से एक हंस वाण से विद्ध होकर गिरा। इस पक्षी के पर कट गये थे। चौंक कर तेरे पिता ने उस पक्षी को उठा लिया। पक्षी ने उनकी गोद में आकर मानो नव जीवन ग्रहण कर लिया हो। इतने में आखेटक भी आ गया। उसने इस आहत पक्षी को तेरे तात से मांगा। पर वे तो रक्षक थे उन्होंने एक भक्षक को उस आहत पक्षी को देने से साफ मना कर दिया।" इस पर राहुल कितनी सुन्दरता से हिंसा के विरुद्ध तर्क उपस्थित करता है:—

"कोई निरपराध को मारे, तो क्यों अन्य उसे न उबारे।
रक्षक पर भक्षक को वारे, न्याय दया कर वानी।।[1]

गुप्त जी के 'किसान' में गाँधी जी के कृषकों तथा गांवों के पुनरुद्धार परक विचारों का प्रभाव देखने को मिलता है। गाँधी जी ने पीड़ितों तथा भारत के दुःख दूर करने के लिए अपना सभी कुछ बलिदान कर दिया। गुप्त जी इससे प्रभावित हो गा उठे:—

'मेरे साथ देश के सारे दुःखों का भी हो अवसान।'[2]

'अंजलि' और 'अर्घ्य' की रचना गुप्त जी ने बापू के अवसान के उपरांत की। गाँधी जी के ब्रह्मचर्य पालन, विदेश में पशुता के विरुद्ध उनका संघर्ष, तथा अधिकारों की प्राप्ति हेतु उनकी अडिगता आदि बातों के प्रभाव से गुप्त जी का मानस रत्नाकर आन्दोलित हो रहा था। इसका सजीव चित्र निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है:

'तेरी पुण्य शीलता अपनी, सप्रमाणता ले आई।
हम सबकी 'बा' जैसी तूने, पतिव्रता पत्नी पाई।।
आई जो उप पत्नी होकर, गई बहन बनकर तेरी।
तू विदेश में भी एकाकी, पशुता के प्रतिकूल लड़ा।
अड़ा जहाँ भी मनुष्यत्व के, अधिकारों के अर्थ अड़ा।।[3]

गाँधी जी की विनय, सत्य के प्रति आग्रह, क्रोध पर विजय आदि बातों के प्रभाव के फलस्वरूप मैथिलीशरण जी ने घोषणा कर दी कि बापू में कुछ ऐसी बात थी जो अन्य

---

१. 'आज' ४ अक्टूबर १९६४
२. मैथिलीशरण गुप्त: भारत भारती, उन्नीसवाँ संस्करण, पृष्ठ ११०-१५
३. मैथिलीशरण गुप्त: भारत भारती, उन्नीसवाँ संस्करण, पृष्ठ १२९।५२
४. मैथिलीशरण गुप्त: भारत भारती, उन्नीसवाँ संस्करण पृष्ठ १८०।१३७

---

१. मैथिलीशरण गुप्त: यशोधरा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८१, ८२, ८३
२. मैथिलीशरण गुप्त: किसान, प्रथमावृत्ति संवत १९७४, पृष्ठ ४९।१३
३. मैथिलीशरण गुप्त: अंजलि और अर्घ्य,

पुरातन ऋषियों में न थी। जैसे जिस क्रोध पर दुरवासा जैसे महान संत विजय न पा सके; गाँधी जी ने उसी क्रोध पर विजय प्राप्त की। असहयोग जैसे विकट विरोध का संचालन करते हुए भी गाँधी जी ने विनय को न छोड़ा। यह भारतीय धर्म एवं दर्शन को उनका अभूतपूर्व योगदान था :

'सत्य उठा जाता था, तू ही आग्रह कर लौटा लाया।
उसे विचारों आचारों में, मन से तूने अपनाया ॥
दुर्वासा जैसे ऋषि हारे, जीता तूने दुर्जय क्रोध।
विनय न छोड़ा किया भले ही, असहयोग सा विकट विरोध ॥[1]

इसी प्रकार गाँधी जी के हरिजन उद्धार संबंधी नीति के प्रभाव को गुप्त जी ने इन पंक्तियों में वाणी प्रदान की:

"छुआ न हमने जिस गुदड़ी को, देखा तूने उसका लाल।
कब की पीड़ित वह हरिजनता, तुझको पाकर हुयी निहाल ॥[2]

आज मानव पशुबल से पलभर में प्रलयकारी दृश्य उपस्थित कर सकता है। पर कवि को पूर्ण विश्वास है कि इस प्रलयकारी मानव को भी गांधीवादी मार्ग के अनुसरण से ही त्राण मिल सकता है :—

"पुरुष आज निज पशुबल से है, पल में प्रलय मचा सकता।
पर तेरा पथ छोड़ उसे भी, कोई नहीं बचा सकता ॥"[3]

गाँवों में रह कर उनके विकास में गाँधी जी विश्वास रखते थे। गुप्त जी इससे प्रभावित हैं तथा कुछ ऐसी ही बात वे कहते हैं:

"करके शिक्षा कार्य समाप्त, विद्यालय की पदवी प्राप्त।
फिर तुम ग्रामों में कर बास, ग्रामीणों का करो विकास ॥[4]

अछूतोद्धार के संबंध में भी वे गाँधी जी से सहमत हैं। अछूत जन ही समाज के सपूत हैं। ये अछूत जन सभी को पवित्र रखते हैं तब वे अछूत क्यों कर हुए:

१. मैथिलीशरण गुप्त : अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, संवत २००७, पृष्ठ २८
२. मैथिलीशरण गुप्त : अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, संवत २००७, पृष्ठ ३३
३. मैथिलीशरण, गुप्त : अंजली और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति संवत् २००७, पृष्ठ ४१.
४. मैथिलीशरण गुप्त, : हिन्दू, विशिष्ट संस्करण, पृष्ठ १५२.

"बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बाँह, करो अछूत जनों पर छाँह।
हैं समाज के वही सपूत, रखते हैं जो सबको पूत।
क्यों अछूत जन हुए अछूत ॥"[1]

शस्त्र तथा विषैले विस्फोटक बमों की अपेक्षा गुप्त जी शान्ति के समर्थक हैं। यह भी गाँधी वादी प्रभाव की ही प्रतिक्रिया है। वे घोषणा कर रहे हैं कि विषैले वाष्प बम आदि के रूप में नाश हो रहा है निर्माण नहीं :—

"विविध विस्फोटक वस्तु विकास,
विषैले वाष्प विषम यशपाश।
जगज्ज्वाला है कि यह प्रकाश ?
हो रहा है निर्माण कि नाश ॥[2]
शान्ति का मूल एक संतोष,
उसी पर आज हमारा रोष।
यही है प्रगति विरोधी दोष,
नहीं भरने देता कृति कोष ॥[3]

'स्वदेश संगीत' में गांधी जी के असहयोग आंदोलन के प्रभाव का सजीव चित्र देखने को मिलता है। इस आंदोलन में तोप वालों को गाँधी टोपी वालों ने स्थिर कर दिया। इन गाँधीवादियों ने शस्त्र के बिना ही संग्राम किया है यह कितने आश्चर्य की बात है। जहाँ विदेशियों ने अपने पौधों की जड़ें जमाई वहां उनकी डालों ने ऊँची होकर असहयोग के फल उत्पन्न किये हैं। रुई के गालों में गोलों को भी उड़ा देने की ताकत है। आज काले लोग गोरों को सत्याग्रह की सीख दे रहे हैं :—

"अस्थिर किया टोप वालों को, गांधी टोपी वालों ने।
शस्त्र बिना संग्राम किया है, इन माई के लालों ने ॥
जहाँ जमाई है अपनी जड़, पश्चिम के निज पौधों ने।
असहयोग के फल उपजाये, उनकी ऊँची डालों ने ॥"[4]

१. मैथिलीशरण गुप्त, : हिन्दू, विशिष्ट संस्करण, पृष्ठ १६६.
२. मैथिलीशरण गुप्त, : विश्ववेदना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६.
३. मैथिलीशरण गुप्त, : विश्ववेदना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५.
४. मैथिलीशरण गुप्त : स्वदेश संगीत, प्रथम संस्करण १६८२, पृष्ठ १२८.

"क्या कर लिया मशीन गनों ने, संगीनों ने, भालों ने ।
बनी रही जो कहीं स्वदेशी, तो दर्शक ही देखेंगे ।।
गोलों को भी उड़ा दिया है, यहाँ रूई के गालों ने ।
गये दिनों में भी भारत ने, निज गौरव दिखलाया है ।
अब भी सत्याग्रह दिखलाया, है गोरों को कालों ने ।।[1]

तिलक की नीति के समर्थकों को साम्यवादी रीति-नीति में ऊपर से विशेष आकर्षण प्रतीत हुआ । सहस्रों नवयुवक साम्यवाद का गुण गान करने लगे । **गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'**, भी इस व्यामोह से मुक्त नहीं रह सके । उन्होंने भी साम्यवादी विचार धारा को अपने काव्य के माध्यम से प्रसारित करने का प्रयास किया । यहाँ तक कि 'साम्यवाद' शीर्षक से एक कविता भी लिखी । लेकिन धीरे-धीरे जब वह साम्यवाद के यथार्थ और व्यवहार से परिचित हुये तथा देशोद्धार के लिए उन्हें गांधी दर्शन के रूप में दूसरा उपयुक्त मार्ग प्राप्त हुआ, तो उन्होंने आजीवन साम्यवाद की ओर मुड़कर भी नहीं देखा । जब सन् १९२१ में महात्मा गाँधी ने स्वतंत्रता संग्राम के लिए असहयोग और अहिंसा का दर्शन प्रस्तुत किया तो 'सनेही' जी सदा के लिए गांधी दर्शन के प्रबल समर्थक, पोषक और प्रसारक हो गये । इतना ही नहीं 'सनेही' जी तो पूर्ण रूप से गाँधी जी के सत्य, अहिंसा, तथा उनके प्रेम के उपासक भी हैं :—

'जय सत्य, अहिंसा और प्रेम,
जिससे तिलोक का हुआ उदय ।
जय मोहन की जय गाँधी की,
जय विश्व वन्द्य बापू की जय ।।[2]

वैचारिक दृष्टि से पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' 'त्रिशूल' जी की राष्ट्रविधायिनी प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक १९२० से माना जाएगा क्योंकि उससे पूर्व ही चंपारन तथा खेड़ा में किये गये अहिंसक प्रयोगों के सफलतास्वरूप

1. मैथिलीशरण गुप्त : स्वदेश संगीत, प्रथम संस्करण १९८२, पृष्ठ १३१.
2. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित कविता का उपर्युक्त अंश वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ११ अक्टूबर १९६४ के अंक से संकलित है ।

'सनेही' जी ने सूक्ष्म दृष्टि द्वारा देखकर निश्चित कर लिया था कि राष्ट्र की उद्धारिका शक्ति इस महापुरुष के जीवन में ही कार्य कर रही है और वहीं से वह अपनी कारयित्री प्रतिभा द्वारा गाँधी जी के पावन विचारों को 'त्रिशूल' उपनाम से सटीक वर्णन करने में तल्लीन हो गये । इस प्रकार राष्ट्रोन्नति संबंधी समस्त आशाओं को गाँधी जी में केन्द्रित करके लिखा:

"तू व्याप रहा है घर-घर में, तेरी चरचा दुनियाँ-भर में,
हिंसा के भारी मर-मर में, निज सत्य अस्त्र लेकर कर में,
पशुता को डाँट दिया तूने, संसार प्रेम से दिया पाट,
तू है विराट तू है विराट ।
तू एक निराला जादूगर, तेरे छूते सब छूमंतर,
चरखे को दे देकर चक्कर, काता स्वातंत्र्य सूत्र सुन्दर,
करता स्वदेश का सर ऊँचा,
तेरा प्रशस्त उन्नत ललाट ! तू है[1]

बीजारोपक राष्ट्र नायकों से लेकर, अद्यतन राष्ट्र सेवा रत नेताओं में गाँधी नाम की ही ऐसी विभूति हुई, जिसने अपने शाश्वत प्रभावों से राजनीति ही नहीं अपितु समाज के सभी अंगों को प्रभावित किया है । इसलिए उनके कार्यकाल का समय ही इतिहास में गांधी युग के नाम से अभिहित किया जाता है । गाँधी दर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि वह अनेकता में एकता की सृष्टि करता है । उसमें किसी जाति विशेष, धर्म विशेष, तथा देश-विदेश के लिए कोई स्थान नहीं है । वह तो प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक काल तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये कल्याणकारी मार्गों का विधायक है । उसमें ईश्वर प्राप्ति का मूल साधन मानवता की सेवा ही है, जिसे विश्व के सभी धर्मों तथा धर्म प्रवर्तकों ने स्वीकार किया है । गाँधी जी किसी गिरि कंदरा में न जाकर, समाज को ही अपनी साधना-स्थली बनाकर उसकी जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं का समूलोन्मूलन करते हुए, अपने दर्शन का विकास करते रहे । इन्हीं कुछ विशिष्ट मौलिक गुणों के कारण ही कन्या

1. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित कविता की उपर्युक्त पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ११ अक्टूबर १९६४ के अंक से संकलित है ।

कुमारी से हिमालय तक बहुभाषा, बहुधर्म एवं जाति प्रधान विशाल पराधीन देश का इतनी लोकप्रियता पूर्वक नेतृत्व करने में सफल हुये।

इस उदात्त गाँधी दर्शन में प्रवेश करने के लिए तीन ही मुख्य द्वार हैं सत्य, अहिंसा, और प्रेम। उसमें सत्य की विशद व्याख्या करते हुए 'सनेही' जी ने सत्य को ही सृष्टि का मूल कारण माना है। सत्यान्वेषण का प्रयास असिधार पर चलने के समान है। यदि सत्य प्राप्ति के लिए प्राणोत्सर्ग भी करना पड़े तो सत्यार्थी कभी भी पीछे नहीं हटेगा। 'सनेही' जी का कथन है।

"सत्य सृष्टि का सार, सत्य निर्बल का बल है,
सत्य-सत्य है, सत्य नियम है, अचल अटल है।
प्राण गये तो इसी पर, न्योछावर होकर गये,
अटल सत्य का प्रेम, भरे जिस नर के मन में।।
पशुबल समझे तुच्छ, खंग भूषण गर्दन में।
सनके भी जो नहीं गोलियों की सन-सन में।।
जीवन में बस प्रेम ही, जिसका प्राणाधार हो।।[1]

गाँधी जी ने सत्य का अभिनव रूप सबके सामने प्रस्तुत किया जो सभी को एक साथ ही ग्राह्य हुआ। सत्य और अहिंसा परस्पर पूरक शक्तियाँ हैं। अहिंसा के बिना सत्य प्राप्ति के प्रयास केवल एक पक्षीय ही माने जायेंगे, सनेही जी ने भी इसे स्वीकार किया है। अहिंसक व्यक्ति में मानवोत्कर्षक गुण सत्य, साहस, धैर्य, अभय, प्रेम, सेवा आदि होना अनिवार्य है। उन्हीं सभी गुणों को अपने में समाविष्ट करने वाले अहिंसक के लिए कोई भी कार्य करना असंभव न होगा:

"जो साहसी नर है जगत में, कुछ वही कर जायगा।
निज देश-हित साधन करेगा अमर पग धर जाएगा।
आत्मा अमर है देह नश्वर, है समझ जिसने लिया।
अन्याय की तलवार से वह क्यों भला डर जाएगा।"[2]

१. गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित कविता की उपर्युक्त पंक्तियां वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ११ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।

२. गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित कविता की उपर्युक्त पंक्तियां वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ११ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धत की गई हैं।

गांधी जी के अनुसार सत्य के द्वारा असत्य से उद्भूत समस्त हेय कार्यों के परित्याग के लिए आग्रह करना ही सत्याग्रही का मुख्य उद्देश्य हैं। 'सनेही' जी ने सत्याग्रह तथा सत्याग्रही का विशद विवेचन 'सत्याग्रही प्रह्लाद' कविता में इस प्रकार किया है:

"मैं डरने का नहीं चमकती तलवारों से,
ज़ञ्जीरों की जकड़ कठिन कारागारों से।
महामत्त गजराज, घातकों की मारों से,
अगम सिंधु से, और आग के अंगारों से।।"

\+ \+ \+

"सत्य एक हरिनाम, भान होता प्रतिपल है,
मुझे सत्य पर प्रेम और विश्वास अटल है।
यह निराशा ही आश, यही निर्बल का बल है।
मैं विचलित हूँगा नहीं, व्यर्थ की काल की चाल है।
करे वार पर वार वह, यहाँ अहिंसा ढ़ाल है।।"[1]

इस प्रकार सनेही जी का सन् १९२१ के बाद का सम्पूर्ण साहित्य गाँधी दर्शन से ही ओत-प्रोत है। सनेही जी की दूर दर्शक लेखिनी ने प्रारम्भ से ही गाँधी जी के सम्मोहक विचारों तथा कार्य पद्धति के अस्तित्व से प्रभाव तथा प्रेरणा ही ग्रहण नहीं की थी, अपितु उसे आत्मसात् भी कर लिया था। तत्पश्चात उन्हीं के अनुगामी बन अपनी लेखिनी तथा मासिक पत्र 'सुकवि की पावन त्रिवेणी द्वारा भगवान बुद्ध के अनुयायियों की भाँति गाँधी जी के विचारों को दूर-दूर तक पहुँचाने लगे। 'सुकवि' के अनेक अंक असहयोग, खादी, चरखा आदि के विशेषांकों से भरे पड़े हैं। गाँधी दर्शन तथा राष्ट्र के लिए उसकी उपयोगिता एवं महत्व का सुन्दर विवेचन उनकी, 'बापू की चिर निद्रा' शीर्षक कविता में हुआ है। वे बापू का स्तवन करते हुए कह रहे हैं:

"जो आशा का था चमन कभी लहराता,
जिसका हर पंछी राम नाम था गाता।

१. गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित 'सत्याग्रही प्रह्लाद' कविता की उपर्युक्त पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ११ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धत की गई हैं।

जिसमें था प्राण तृषित शांति जल पाता,
जिसकी छवि से था देश भवन शरमाता।
वह हाय! हुआ सुनसान, सो गये बापू,
जनता के जीवन प्राण सो गये बापू ॥[1]

बापू गरीबों को भी अमीरों के समान अधिकार तथा धन सम्पन्न देखना चाहते थे। निर्धन भी धनवान हों :— गाँधी जी की इस विचार धारा के प्रति **माखनलाल चतुर्वेदी** की प्रबल आस्था थी। वे कहते हैं :—

'बलि के कंपन में जो आती, अच्छी हुई मिठास।
यौवन के बाजीगर करता हूँ उस पर विश्वास ॥[2]

अहिंसा पर भी चतुर्वेदी जी की आस्था है। गाँधी जी की अहिंसा से प्रभावित होकर घोषणा कर देते हैं कि हाहाकार मचाती हुई लाखों चमकती तलवारों के सामने अहिंसा ही विजय पा सकती है। ये भाव निम्नलिखित पंक्तियों में कितनी सुन्दरता से व्यक्त हुये हैं :—

"लपकती हैं लाखों तलवार; मचा डालेंगी हाहाकार।
मारने मरने को मनुहार खड़े हैं बलि पशु सब तैय्यार ॥

× × ×

पलट जाये चाहे संसार न लूंगा उन हाथों हथियार ॥[3]

राजनीतिक रंगमंच पर गाँधी जी ने जहाँ असहयोग एवं सत्याग्रह के माध्यम से संपूर्ण भारत को प्रभावित किया वहाँ अनेक भावुक प्रवुद्ध कवियों के संवेदनशील हृदय के तार भी झंकृत किये। फिर क्या था? शांति दूत गाँधी के समक्ष तोप, टैंक और बन्दूक की शक्ति थरथरा कर शांत हो गयीं, और कवयित्री **सुभद्राकुमारी चौहान** के काव्य में भारतीय संग्राम का वास्तविक चित्र इस प्रकार झलकने लगा :—

"वह चला तोप, गल चले टैंक, बन्दूकें पिघली जाती हैं।
सुनते ही मंत्र अहिंसा के, अपने में आप समाती हैं ॥[1]

आज विज्ञान के युग की विकरालता में कवयित्री को गाँधी के व्यक्तित्व की याद आती है। गाँधी वह महा मानव थे जिन्होंने एक युग का निर्माण किया। वह तो ऐसा जादूगर है जो लोहे को पानी का रूप दे सकता है और फिर चिन्ता किस बात की? इसे भी सुभद्रा जी की वाणी मुखरित कर रही है :—

"है यही आदि गाँधी युग का, जो बापू ने विस्तारा है।
है यही अंत लोहे के दिन, जिनका विज्ञान सहारा है ॥
विज्ञानी की है परम सिद्धि, जग को लोहे से भर देना।
है हँसी खेल तुमको बापू, लोहे को पानी कर देना ॥[2]

इसी प्रकार कवयित्री को गांधी जी के सत्य तथा श्रम करने की विचार-धारा में भी पूरी आस्था है। तभी तो वे घोषणा करती हैं :—

"निर्धन हों धनवान, परिश्रम उनका धन हो।
निर्बल हों बलवान, सत्य मय उनका मन हो ॥[3]

गाँधी जी श्रम में विश्वास रखते थे। इस श्रम का पूर्ण केन्द्र कृषक हैं। **ठाकुर गोपालशरण सिंह** ने इसे इस प्रकार कहा :—

"उच्च विचार सरल जीवन के, तुम्हीं हुये आदर्श।
दिया तुमने श्रम को सम्मान, कौन है तुमसा कृषक महान ॥[4]

राम नरेश त्रिपाठी गाँधी जी के अनन्य उपासकों में

---

१. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित 'बापू की चिर निद्रा' कविता की उपर्युक्त पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ११ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
२. माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
३. माखनलाल चतुर्वेदी, हिम किरीटिनी, तीसरा संस्करण पृष्ठ ९४-९७.

१. सुभद्रा कुमारी चौहान द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ, वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
२. सुभद्रा कुमारी चौहान द्वारा लिखित उपर्युक्त पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ अंक से उद्धृत की गई हैं।
३. श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान; मुकुल, चौथा संस्करण पृष्ठ ८६।
४. ठाकुर गोपालशरण सिंह : ग्रामिका, संस्करण १९५१, पृष्ठ १५.

से एक हैं। गाँधीवाद के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्तों को त्रिपाठी जी ने सिर झुकाकर स्वीकार किया। अतः यह एक गाँधीवादी कवि हैं। उनकी समस्त रचनाओं में गांधीवाद मुखरित हो उठा है। कवि के हृदय में देश प्रेम की भावना तभी जगी जब वे महात्मा जी के संपर्क में आये। उनका राष्ट्रप्रेम गाँधी जी की देन है। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में होने वाले भारतीय आन्दोलनों की झलक उनकी कृतियों में देखने को मिलती है। यदि हम १९२१ के असहयोग की झलक देखना चाहें तो 'पथिक' का अध्ययन करना होगा।

त्रिपाठी जी की काव्य कृतियों में 'पथिक' सर्वश्रेष्ठ काव्य रचना है। उसका महत्व कई दृष्टियों से आंका जा सकता है। पहली बात तो यह है कि 'पथिक' हिन्दी कविता के इतिहास में एक ऐसी काव्य पुस्तक है जिसमें गाँधी के नेतृत्व में होने वाले भारतीय स्वाधीनता संग्राम तथा असहयोग आन्दोलन का बिल्कुल यथार्थ चित्र खींचा गया है।

दूसरी बात यह है कि इसमें गांधी जी के राजनीतिक, सामाजिक, तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को मुखरित करने का पूरा अवसर मिला है। इसलिए कुछ लोगों का कहना है कि गाँधीवाद की सफल व्याख्या'पथिक' में की गई है। इस पुस्तक का प्रकाशन असहयोग आन्दोलन के समय हुआ। जिस स्वतन्त्र भारत का स्वप्न पुस्तक के अंतिम सर्ग में कवि ने देखा है उसकी वास्तविकता आज भी देखने को मिलती है। आज से बहुत पहले त्रिपाठी जी ने यह संकेत कर दिया था:—

"शासन का सब भार लिया, जनता ने अपने कर में।"[१]

आज हमारा देश स्वतन्त्र है और हमने नये संविधान के अनुसार गणतंत्र (Republic) की स्थापना कर ली है। महात्मा जी का सुनहरा स्वप्न आज पूरा हो गया। 'पथिक' में इसी धूमिल सपने को साकार रूप दिया गया है।

जीवन का उद्देश्य लोक कल्याण करना है। इसके लिए सबसे पहले आत्मशक्ति को जगाने की आवश्यकता है। आत्मशक्ति को पहचानने वाला व्यक्ति ही देश का सेवक हो सकता है। उसका लक्ष्य देश का कल्याण करना

१. रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, ५।३०

होना चाहिये। महात्मा जी ने एक बार कहा था कि भारत की स्वतन्त्रता विश्व स्वातंत्र्य के लिए ही है। त्रिपाठी जी ने भी यही बतलाया है :—

"यद्यपि सब जग का हित चिन्तन सबको आवश्यक है।
पर प्रत्येक मनुज पर पहला, देश जाति का हक है।।"[१]

इसलिए देश के प्रत्येक नागरिक को सबसे पहले अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिये। मुनि के उपदेश से पथिक की आँखें खुलती हैं और वह अपने प्रिय देश के चरणों पर अपने जीवन पुष्प का सर्वस्व अर्पित कर देता है:---

"हे जन्म भूमि, हे देश, प्रेम धन मेरे।
मैं यह जीवन पुष्प चढ़ाता हूँ, चरणों पर तेरे।'

पथिक अपने देशवासियों को असहयोग आन्दोलन छेड़ने के लिए प्रेरित व उत्साहित करता है। वह शासक से सभी प्रकार के संबन्धों को तोड़ लेने की सलाह जनता को देता है क्योंकि पराधीनता से बढ़कर संसार में और कोई भी दुःख नहीं है। :---

"दुखदायी शासन से अपनी सारी शक्ति हटा लो।"[२]

पथिक अहिंसात्मक लड़ाई छेड़ देता है। वह क्रांति का पथ न अपनाकर शान्ति का रास्ता पकड़ता है। यह गाँधीवादी अस्त्र है, जिसका प्रयोग वह इस अवसर पर करता है। देश को आज़ाद कराने में पथिक को अपनी पत्नी और पुत्र का बलिदान देना होता है। उसके आदर्श जीवन से जनता इतनी अधिक प्रभावित होती है कि देश के सभी लोग एकता के सूत्र में बंध जाते हैं और अंत में राजा देश छोड़कर भाग जाने को बाध्य हो जाता है। पथिक भारत माता के चरणों पर अपना सर्वस्व बलिदान कर देश को स्वतंत्र करता है।

भारत दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व जमाना नहीं चाहता। लेकिन वह यह अवश्य चाहता है कि जो देश गुलामी की चक्की में पिस रहा है वह शीघ्र से शीघ्र मुक्त हो जाये। यह है भारत की राष्ट्रीयता के संबंध में गाँधी

१. रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, ३।७४.
२. रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, ३।७४.

जी का आदर्श। 'पथिक' में यद्यपि राष्ट्रीयता के इस व्यापक रूप का प्रदर्शन नहीं किया गया तथापि कवि ने यह स्पष्ट बतला दिया है कि हमारा राष्ट्रप्रेम विश्व प्रेम का समानार्थी है, लेकिन हमें सबसे पहले अपने देश की चिन्ता करनी चाहिये:—

"यद्यपि सब जग का हित-चिन्तन सबको आवश्यक है,
पर प्रत्येक मनुज पर पहला देश जाति का हक है।।"[1]

भारतीय राष्ट्रीयता की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वतंत्रता संग्राम में अहिंसा नीति को अपनाया गया है। 'पथिक' इसी अहिंसा नीति का पाठ अपने अनुयायियों को पढ़ाता है। वह स्वयं मृत्यु का आलिंगन करता है लेकिन जनता की भावनाओं को उत्तेजित नहीं होने देता। गाँधी जी के मतानुसार राष्ट्रसेवक वही हो सकता है जो अपना सभी कुछ देश के नाम पर सर्मपित कर देने की शक्ति रखता है। त्रिपाठी जी का 'पथिक' ऐसा ही व्यक्ति है।

गाँधीवाद की राष्ट्रीयता में एक और महत्वपूर्ण बात बतलाई गई है, जिसका सम्यक निर्वाह 'पथिक' में किया गया है। गाँधी जी की दृष्टि में नारी और पुरुष के मौलिक अधिकारों और कर्त्तव्यों में किसी भी प्रकार का अंतर नहीं है। इसीलिए उन्होंने भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई में नारी-पुरुष के सम्मिलित उद्योगों और प्रयत्नों की आवश्यकता समझी। भारत की आजादी की लड़ाई में भारतीय नारियों ने भी उतने ही उत्साह के साथ-साथ भाग लिया जितना पुरुषों ने। वे पुरुषों से किसी भी तरह पीछे नहीं रहीं। त्रिपाठी जी की रचनाओं में भी पुरुष और नारी को समान अधिकार दिया गया है। स्वाधीनता की लड़ाई में दोनों भाग लेते हैं। 'स्वप्न' में नारी ने जितना खुलकर पुरुषों को सहयोग दिया है उतना 'पथिक' में नहीं दिया। 'पथिक' की नारी भावना, दया और करुणा की देवी है। इतना होते हुए भी वह देश के प्रिय नेता पथिक की रक्षा के लिए विष प्याला पीकर अपना बलिदान दे देती है। 'पथिक' का राजा अंग्रेजी सरकार का प्रतीक है। पथिक सत्याग्रही नवयुवकों का तथा 'मुनि' गाँधी के प्रतीक हैं।

१. रामनरेश त्रिपाठी: पथिक, सर्ग २।४४

'पथिक' का कवि गाँधीवादी है। गाँधीवाद में ईश्वर की अलौकिक सत्ता को सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया गया है। इसलिए त्रिपाठी जी ने भी इस पुस्तक में आस्तिकता पर जोर देते हुए यह बतलाया है कि जगन्नियन्ता की इच्छा से ही संसार की रचना हुई है। यह समस्त संसार उसी की क्रीड़ा का एक रूप है। उसी की इच्छा से पृथ्वी का उद्भव, पालन और प्रलय होता है। मुनि के शब्दों में :—

"एक अनंत शक्ति वसुधा का संचालन करती है।
वह स्वतंत्र इच्छा से लय, उद्भव, पालन करती है।।[1]

हिंसा से हिंसा की आग बुझायी नहीं जा सकती। घृणा से घृणा का अंत नहीं होता। प्रेम, क्षमा, समर्पण आदि से ही किसी देश का कल्याण हो सकेगा। 'पथिक' के कवि ने भी इसी अहिंसा की महिमा और शक्ति के गीत गाये हैं। 'पथिक' अपने जीवन की बलि चढ़ा देता है लेकिन राजा के शोषण का प्रतिशोध नहीं लेता। उत्तेजित जनता को वह अमर संदेश देता है :---

'रक्तपात करना पशुता है, कायरता है मन की।
अरि को वश करना चरित्र से, शोभा है सज्जन की।।[2]

दुश्मन को अपने नैतिक बल से जीतना हमारी सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। इसके लिए अहिंसा का व्रती होना चाहिये। 'पथिक' के कवि का यही अमर संदेश है कि संसार से हिंसा का नाश हो जाये और लोग सतपथ पर चलकर दूसरों का कल्याण करें।

गाँधी के ही पथ का अनुगमन करने की मंत्रणा **सियारामशरण गुप्त** भी देते हैं। हिन्दी के बापू सियाराम शरण जी गाँधी के व्यक्तित्व से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्हें उनमें देवत्व का दर्शन हुआ :---

"जान लिया तुमने गंभीर स्वानुभव से, हिंसा का उपद्रव से
संभव विनाश नहीं, नर अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का ।।[3]

१. रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, सर्ग २।४५.
२. रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, सर्ग ४।५६.
३. सियारामशरण गुप्त द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।।

महायुद्ध के समाचारों में रेडियो द्वारा दोनों ओर से बमबारी का बखान सुनकर सियारामशरण जी के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसी का परिणाम उनका 'उन्मुक्त' है। आपने 'नकुल' काव्य में जो लिखा है वह भी इस प्रसंग में स्मरणीय है :---

"मुझको तो विश्वास नहीं है, रंचक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझा स्वयमपि जो विष में ।।"[1]

इस युग के समस्त चेतनशील समाज पर गाँधीवाद का जो उचित प्रभाव पड़ा है सियारामशरण जी उसमें किसी से पीछे नहीं रहे। चर्खा चला पाने की साध श्वास जैसे कठिन रोग में पूरी नहीं हो पाती, तब अनुज व अग्रज के चर्खे की मधुर-मधुर ध्वनि पर ही उन्हें संतोष करना पड़ता है। इस प्रकार सियारामशरण जी का कवि जैसा स्वरूप मोटी खादी के कुर्ते धोती में और भी उद्दीप्त हो उठता है, और वे प्रथम दर्शन में गाँधीवादी संत ही जान पड़ते हैं।

'आत्मोत्सर्ग' की रचना संवत् १९८८ में सियाराम शरण जी ने की है। गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान की घटना राष्ट्र की भावनाओं को झकझोर देने वाली थी। महात्मा गाँधी भी उससे प्रभावित हुये। सियारामशरण जी की लेखनी कानपुर के साम्प्रदायिक दंगे के कारण क्षत विक्षत मानवता के दर्शन कर चीत्कार कर उठी। विद्यार्थी जी के आत्म बलिदान की यह करुण कथा इस खंड-काव्य में अंकित है। निम्नलिखित पंक्तियों में हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना साकार हो उठी है :--

"हिन्दू मुस्लिम दोनों का, यह संयुक्त राष्ट्र होगा ।।"[2]

'बापू' की रचना सियारामशरण जी ने गाँधी जी से प्रभावित होकर की। इस काव्य में बापू के दिव्य और अलौकिक गुणों का ही आख्यान है जिनका उपयोग मानवता की रक्षा के लिए हुआ है। गाँधी को अपने काव्य का आलम्बन बनाकर कवि ने अपने भावोच्छ्वासों को शुद्ध सच्चे रूप में पाठकों के सम्मुख रक्खा है। बीस उच्छ्वासों में बापू का गुण गान करके २१ वें उच्छ्वास में कवि संतोष की सांस लेता है। मानवता के इस कवि को बापू में मानवता की चरम परिणति दिखलाई पड़ती है :—

"जन्म जात उच्च स्वर्ग कुल के।
मर्त्य कुलशाखा में हुए हो गोद सप्रमोद।
+ + +
आत्म मणि का सा पारदर्शी पात्र, दृष्टि-हेतु उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता।"[1]

बापू की दृष्टि में कितनी दूरदर्शिता है। उनका सत्य अहिंसा का गीत देश काल की सीमाओं का उल्लंघन कर सर्वव्यापी हो रहा है :---

"यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं,
दूरी के अनंत सिंधु जल में ।।"[2]

'बापू' के चित्र की पार्श्व भूमि लाल काली है, उसके पीछे दृश्य है कारागार का, हिंसा क्षेत्र का। उस रौद्र और वीभत्स को प्रकाशित करती हुई बापू की सात्विक शान्त मूर्ति अवतरित होती है। चित्र सजीव हो उठता है। इस बिन्दु में कारागार का मर्मस्पर्शी वर्णन है जो भावों को उद्वेलित करता है। सब ओर निस्तब्धता, आतंक और भय है। यह कारागार तृष्णातुर अंधकूप है जो दीन हीन मानव के सत्यशील को लील लेगा। किन्तु धरित्री में जागृति का मांगलिक सुप्रभात हुआ है :---

"भीति का कठोरातंक टूट गया
स्पर्श से तुम्हारे एक पल में।"[3]

बापू का सत्य और अहिंसा के रूप में जो उदार दान है वह फैलकर समस्त भुवन का हो जाये, यही कवि की अंतिम इच्छा है। अपने अपने समय के युगपतियों-राम कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि का कवि ने 'बापू' में समाधान और समाहार कर लिया है, पर फिर भी बापू बापू ही हैं।

मानव की सात्विक वृत्तियों को जागृत करने में गांधी जी का सबसे बड़ा योग रहा है। वे श्रद्धा की मूर्ति थे। उन्होंने युग को कर्म का मंत्र दिया। भौतिक जगत के अंधकार में वे आध्यात्मिक प्रकाश पुञ्ज थे, सत्य, अहिंसा को उन्होंने साधन ही नहीं साध्य रूप में भी ग्रहण करके

---

१. सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, सियारामशरण गुप्त, नकुल, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२.
२. सियारामशरण गुप्त, आत्मोत्सर्ग, पृष्ठ. ३०

१. सियारामशरण गुप्त : बापू, संस्करण १९९४, पृष्ठ २७.
२. सियारामशरण गुप्त : बापू, संस्करण १९९४, पृष्ठ १८.
३. सियारामशरण गुप्त : बापू, संस्करण १९९४, पृष्ठ १९.

मानव को भावी निर्माण की नयी दिशा प्रदान की। वे ज्ञान की नित्य शुद्ध-बुद्धि शक्ति के प्रतीक थे :—

"हे मनस्वि, श्रद्धा में अखंडित हो,
दूर गत आशा मध्य सुप्रतिष्ठ।
कौन बुद्ध तुम हे तपस्वि! नित्य एक निष्ठ ॥[१]

विश्वयुद्ध में जब वायुयान बम वर्षा से चहुँ ओर निरीह निशस्त्र जनता पर पाशविकता का नग्न नृत्य हो रहा था तब रुग्ण सियारामशरण जी की दृष्टि सत्य अहिंसा ग्रस्त मानव के विश्लेषण की ओर गयी और गाँधीवाद के अहिंसात्मक युद्ध के रूप को स्पष्ट करने के लिए 'उन्मुक्त' की रचना हुई। निष्कर्ष रूप में कवि का कथन है:—

"हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल।
जो सबका है, वही हमारा भी मंगल है॥
मिला हमें फिर सत्य आज यह नूतन होकर।
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर॥[२]

इन पंक्तियों में कवि ने गाँधीवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति की है गाँधीवाद पीड़ित एवँ पराजित देश की जितनी शुद्ध और स्वस्थ अभिव्यक्ति है, कवि सियारामशरण का काव्य गाँधीवाद का उतना ही सच्चा प्रतीक है। 'उन्मुक्त' हिंसा की भीषण निष्फलता प्रदर्शित करता हुआ सत्य और अहिंसा की स्थापना करता है। "सबके हित में लाभ करो निज विजय श्री का"—यही 'उन्मुक्त' का संदेश है।

सदियों की गुलामी से भारत की आत्मा कुंठित हो चुकी थी। महात्मा गाँधी जब प्रकाश पुञ्ज बनकर यहाँ आये तो कविवर **सुमित्रानन्दन पंत** उनसे प्रभावित हो गा उठे :—

"सदियों का दैन्य तमिस्त्रातम धुन तुमने काते प्रकाश सूत।
हो नग्न,नग्न पशुता ढ़क दी,बन नव संस्कृति मनुजत्व पूत॥[३]

पंत जी की ग्राम्या पर गाँधी जी की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'ग्राम्या' के प्रारंभ में ही कवि उन

१. सियारामशरण गुप्त : बापू, संस्करण १९९४ पृष्ठ २१.
२. सियारामशरण गुप्त : उन्मुक्त, संस्करण १९९७ पृष्ठ२३
३. सुमित्रानन्दन पंत रचित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धधृत की गई हैं।

आदर्श ग्रामों की कल्पना करता है जो गांधी जी के राम राज्य के अंतर्गत आते हैं।[१]

इसी रचना में 'चरखा गीत' के अंतर्गत महात्मा जी के स्वदेशी आंदोलन का प्रभाव देखने को मिलता है।[२] 'चरखा गीत' में कवि का कथन है कि चरखा शब्द करता हुआ घूम रहा है। वह कहता है कि "मैं सर्वसाधारण का मीत हूँ। निर्धनों का सहारा हूँ। मैं जीवन की सफलता का एक सरल नुस्खा बताता हूँ और वह है 'परिश्रम'। जो दरिद्र हैं और जिनके पास धन, अस्त्र, वस्त्र कुछ भी नहीं मेरी सहायता से वह धीरे-धीरे उन्नति कर सकते हैं।

जो शोषित वर्ग है उसका पालन मैं करता हूँ। देश का धन स्वदेशी कपड़ा लेने पर विदेश नहीं जा पाता। अपना श्रम छोड़ दो मुझे कातो। मैं तुम्हारे दुःख दरिद्रता हर लूंगा।[३]

'महात्मा जी के प्रति' कविता में कवि ने महात्मा जी के प्रति असीम श्रद्धा से नत हो उनके व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित हो गाँधी जी का गुणगान किया है।[४] कवि ने महात्मा जी के महान रूप को देखा तथा समझा है। बापू जी नवयुग के स्रष्टा थे। वह नवीन संस्कृति के निर्माता थे। वह विश्व बन्धु थे। उनकी आत्मिक शक्ति अपूर्व और अपार थी। वह दूसरों के लिए जिए और अंत में दूसरों के लिए मरे। वह शान्ति के पुजारी थे। वह दलितों के आश्वासन तथा निराश व्यक्तियों की आशा थे। वह हरिजन ही थे। ये सभी भाव कवि ने अपनी उपर्युक्त कविता 'महात्मा जी के प्रति'[५] में विस्तार से व्यक्त किए हैं।

आज के विज्ञान युग में मानवता में प्रवेश करने की आवश्यकता है। कवि की यह घोषणा है कि यह कार्य कोई कर सकता है तो केवल बापू ही। संसार उनकी ओर आशा भरी आंखों से देख रहा है:

१. सुमित्रानन्दन पंत, ग्राम्या, १ शीर्षक : 'स्वप्न पर'
२. सुमित्रानन्दन पंत, ग्राम्या, २०, शीर्षक : 'चरखागीत'।
३. सुमित्रानन्दन पंत, ग्राम्या, २०, शीर्षक : 'महात्मा जी के प्रति'
४. सुमित्रानन्दन पंत, ग्रम्या,२१, 'महात्मा जी के प्रति',
५. सुमित्रा नन्दन पंत, ग्राम्या, २१, 'महात्मा जी के प्रति' यह कविता सन् १९३९ में लिखी गई।

"बापू ? तुम पर है आज लगे जग के लोचन।
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बंधन!![1]

कवि पर गाँधी की अहिंसा का भी प्रभाव पड़ा है। 'अहिंसा' शीर्षक कविता में पंत जी ने अहिंसा, विश्वबन्धुत्व तथा एकता की महत्ता चित्रित की है। यह भी कहा है कि विभिन्न संस्कृतियाँ जब तक देश में एक संस्कृति का रूप न लेंगी तब तक जन कल्याण असंभव है।[2]

पंत जी आगे इसी रचना में गाँधी जी की धारणा को मूर्त्त रूप देते हुए कहते हैं कि भारत का उत्थान ग्रामों के उत्थान होने से संभव है। यहाँ ९० प्रतिशत कृषक हैं। यह गरीबों का देश है इसमें ही:

"युग युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित,
संस्कृतियों का ह्रास बुद्धि जन शोषण से रेखांकित।।[3]

गाँधी के उपदेशों के आगे **बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'** का यह आतंकवादी कवि हृदय जो कभी गाता था-प्राणों के लाले पड़ जायें' आज श्रद्धानत है:

"निकले हैं अपने मस्तक को, हम आज हथेली पर लेकर
हम नंगे भूखे जाहिल हैं, हम निपट निराश्रित हम बे घर।।[4]

सोहन लाल द्विवेदी गाँधी जी के अप्रतिम व्यक्तित्व से प्रभावित हो कहते हैं:

अनमोल सृष्टि की यह रचना। दो अक्षर में हो गई बद्ध।
बापू! के लघु सम्बोधन में, सारा रहस्य युग का निबद्ध।।[5]

'जय गाँधी'[6] द्विवेदी जी का राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कविताओं का संग्रह है। इसमें कवि ने गाँधी को युगावतार के रूप में स्वीकार किया है। कवि पर गाँधी जी का इतना अधिक प्रभाव हुआ कि उन्होंने घोषणा कर दी कि गाँधी युग संस्थापक, युग संचालक, तथा युगाधार होने के साथ-साथ युग निर्माता भी हैं:

"युग परिवर्तक, युग संस्थापक, युग संचालक हे युगाधार।
युग निर्माता, युग मूर्ति तुम्हें, युग युग तक युग का नमस्कार।।[1]

इसके आगे गाँधी की अभय तथा करुणा की भावना से प्रभावित हो कवि गा उठता है :—

"पिसती कराहती जगती के, प्राणों में भरते अभयदान।
अधमरे देखते हैं तुमको, किसने आकर यह किया त्राण।।

\+ \+ \+

नित महाकाल की छाती पर,
लिखते करुणा के पुण्य श्लोक।।[2]

गाँधी जी की अहिंसा की दृढ़ता के समक्ष अस्त्र-शस्त्र लुंठित हो गये। सेनाओं ने घर की राह ली। केवल गाँधी की अहिंसा की ही रणभेरी का शब्द कानों में गुञ्जरित हो रहा है:—

"हैं अस्त्र-शस्त्र कुंठित लुंठित, सेनायें करतीं गृह प्रयाण।
रण भेरी बजती है तेरी, उड़ता है तेरा ध्वज निशान।।"[3]

गाँधी जी के स्वदेशी आन्दोलन का भी द्विवेदी जी पर प्रभाव पड़ा जिसे उन्होंने 'खादी गीत'[4] के अंतर्गत अभिव्यक्त किया है। 'डाँडी यात्रा'[5] शीर्षक कविता में गाँधी जी के 'नमक सत्याग्रह' आन्दोलन का प्रभाव है। धार्मिक एकता भी गाँधीवादी प्रभाव के आवरण में इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है :—

---

१. सुमित्रानन्दन पंत, ग्राम्या ४२, 'बापू'।
२. सुमित्रानंदन पंत ग्राम्या, ४३, अहिंसा।
३. सुमित्रानंदन पंत, ग्राम्या, टीकाकार लक्ष्मीनारायण, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५।
४. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
५. सोहनलाल द्विवेदी रचित उपर्युक्त काव्य पंक्तियां वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
६. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी Indian Press publications private limited, प्रयाग से प्रकाशित किया गया।

---

१. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी, शीर्षक : 'युगावतार' पृष्ठ ३.
२. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी, पृष्ठ ४.
३. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी, पृष्ठ ५.
४. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी, पृष्ठ ७.
५. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी, पृष्ठ ६५.

"हिन्दू मुस्लिम सिक्ख इसाई, क्या न सभी हैं भाई भाई।
जन्म भूमि है सबकी भाई,जन्म भूमि है सबकी भाई।।[१]

'राष्ट्रदेवता' शीर्षक कविता में कवि ने बापू को एक ऐसे राष्ट्रदेवता के रूप में स्वीकार किया है जो सत्य अहिंसा से सुसज्जित चक्रों वाले रथ पर बैठे हैं। जिन्होंने एक बार ही नहीं अनेक बार जलती हुई जाति के संकट को अपनी बलि देकर दूर किया, जिन्होंने स्वयं बलिदान होकर विश्व के प्राणों को अभयदान दिया। जिन्होंने जब-जब उपवास किया तब-तब बल से नहीं अपितु तप से इतिहास ही बदल दिया।[२] 'युगावतार' रचना में कवि ने गाँधी जी से प्रभावित हो उन्हें पद दलितों के शक्तिकोष के रूप में स्वीकार किया है। दुबले-पतले गाँधी में कितनी अपरिमित शक्ति थी उसे भी द्विवेदी जी से ही सुनिये :—

"हैं मुट्ठी भर हड्डियाँ भले ही,कह लो तुम इसको शरीर।
संसार कांपता चलता है, यह भारत का नंगा फकीर।।[३]

हरिवंशराय बच्चन ने गाँधी को देश एवं जाति के दीवानों का अग्रदूत माना :----

"हे देश जाति के दीवानों के चूड़ामणि।
इस चिर यौवन मय पावन वसुन्धरा।।
की सेवा में मनुहार सहस्र करते करते।
दी तुमने अपनी उमर गवां, दी देह त्याग।।
अब राख तुम्हारी आर्य भूमि की भरे मांग।
हे अमर तुम्हें खो, इस तपस्विनी का सुहाग।।"[४]

बापू के तीन गोलियाँ लगीं वे गिर गये। तीन जगह से रक्त की धाराएँ निकल रही हैं :—

"तीन जगह से निकल रही हैं, लाल लाल लोहू की धार।
है कोई धनवंतरि ? बापू की छाती के घाव भरे।।[५]

सत्य तो यह है कि गाँधी के अवतार से भारत का इतिहास भी गौरवान्वित हो उठा। **डॉ० रामकुमार वर्मा** कह उठे :—

"बापू तुमको पाकर युग का धन्य हुआ इतिहास।
आज तुम्हारा वर्तमान ही है भविष्य की सांस।।[१]

गांधी जी की अहिंसा की पुकार जन जन के मन में घर कर गई। सुकुमार गीतों के गायक **नेपाली** ने इसे ऐसे लिखा है :—

"है अपूर्व यह युद्ध हमारा, हिंसा की न लड़ाई है।
नंगी छाती के ऊपर, तोपों की विकट चढ़ाई है।।
तलवारों की धार मोड़ने आगे गर्दन आई है।
सिर के मारों से डंडों की होती यहाँ सफाई है।।[२]

गांधी इस युग के रुद्र भी थे। कवि **अंचल** ने उनका चित्रण इस प्रकार किया है :—

"महाक्रान्ति के अग्रदूत विद्रोह शिखर अधिनायक।
महा रुद्र और दीप्त कंस भैरव गीतों के अधिगायक।।
फिर इंगित पर चले तुम्हारे विजय लब्ध जन गण मन।
पग चिह्नों पर बढ़े तुम्हारे क्षुब्ध देश का यौवन।।[३]

अन्य कवियों की भाँति **रामधारीसिंह 'दिनकर'** भी गाँधी जी से प्रभावित हुये। यों तो कवि ने 'युगावतार' तथा 'युगाधार' में बापू से प्रभावित हो उनका यशोगान किया। अंत में १९४६-४७ की अवधि में कवि ने राष्ट्रीय जीवन की करुण बेला में जब हिन्दू मुस्लिम जातीय द्वेष का दावानल कलकत्ता, नोआखाली आदि स्थानों में नर कुण्ड सा जल रहा था, बापू को अपने सिद्धान्तों पर अचल हिमालय की भाँति स्थिर देख कर अपनी प्रतिभा से स्पर्श करने का प्रयत्न किया और 'बापू' नामक पुस्तक 'विराट के चरणों में एक वामन का दिया हुआ शुद्ध उपहार'

१. सोहनलाल द्विवेदी : जय गाँधी, पृष्ठ १९२
२. सोहनलाल, द्विवेदी : जय गाँधी, पृष्ठ २२९-३३
३. सोहनलाल द्विवेदी, युगाधार, पृष्ठ ८.
४. 'बच्चन' लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार-पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।।
५. हरिवंशराय बच्चन, सूत की माला, पहला संस्करण जुलाई १९४८, पृष्ठ १५.

१. डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
२. नेपाली द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।
३. अंचल द्वारा लिखित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।

अर्पित किया।

दिनकर का 'बापू'[1] गांधी विषयक काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस काव्य में कवि बापू में देवत्व की झलक देखकर उनके चरणों में झुक गये हैं। 'बापू' को अपनी रचना सुनाकर अपने को धन्य बनाने का सौभाग्य तो कवि नहीं पा सका पर उसे यही संतोष है कि महात्मा जी के निकट संपर्क में रहने वाले कुछ लोगों ने उनका यह काव्य सुना और श्री मृदुला बेन कह उठीं कि बापू की ठीक वही मनोदशा थी जो कवि ने इस काव्य में व्यक्त की है।

कवि का कथन है कि वह तेजस्वी कर्मवीरों की पूजा अब तक अंगारों से करता आया है, जबकि संसार रोली और फूलों के हारों से वीरों की पूजा करता है। पर गाँधी के तेज के आगे उसके उद्वेलित, ज्वलित गीत सामने नहीं हो पाते। वे उन के तेज को देखकर लजाते हैं। आज वह इस शांति के दूत की पूजा किन अंगारों से करे, वह यह जानने में असमर्थ है:—

"तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी।
दृग में उंड़ेल कर सहज शील, देखती तुझे दुनियाँ सारी"॥[2]

प्रभु की गोद में ही जिसकी समर भूमि हो, उस वीर के युद्ध का वर्णन कौन कर सकता है।[3] सबमें और तुझमें कितना अंतर है। तूने क्रान्ति की, पर प्रेम का शस्त्र लेकर शान्ति द्वारा युद्ध किया। देवालय में नर को नहीं भेजा पर नर के अंतर में छिपे देवालय का उद्घाटन किया:

"सबने विद्वेष गरल, तूने देखा अमृत प्रवाह।
सबने बड़वानल लिया, लिया तूने करुणा सागर अथाह।
नर के भीतर की दुनियाँ में है कहीं अवस्थित देवालय।
सदियों में कभी-कभी कोई कर भी पाता जिसका परिचय।
मानवता का मरमी सुजान, आया तू भीति भगाने को,
अपदस्थ देवता को नर में फिर से अभिषिक्त कराने को॥[4]

१. रामधारीसिंह 'दिनकर' रचित 'बापू' काव्य के समस्त उद्धरण चक्रवाल, लेखक रामधारीसिंह 'दिनकर' (कविताओं का संग्रह) प्रकाशक उदयाचल, पटना ४, प्रथम संस्करण १६५६ ई० से दिये जायेंगे।
२. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २२७
३. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २२७-२२८
४. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २३०

इस शान्ति के अवतार ने देखा कि नोआखाली की धरती पर दानवता नृत्य कर रही है; हिंसा की आग जल रही है और मानवता कराह रही है। बापू ने अपने को इस दानवता की आग में झोंक दिया, और निश्चय किया कि या तो वे रहेंगे या दानवता रहेगी। साधारण मानव उस मृत्यु के गर्त में कूदते गाँधी के साहस को देखकर चकित रह गया। यह क्या मानव है, वह निर्णय नहीं कर सका :—

"पर हो अधीर मत मानवते! पर हो अधीर मत मेरे मन।
है जूझ रही इस व्यूह बीच धरती की कोमल एक किरण॥[1]

गाँधी हम लोगों के पाप को अपने सिर पर ढोने के लिए अवतरित हुए थे।[2] मानवता के कलंक की रेखा को मिटाने के लिए वह इस धरती पर आये थे। नोआखाली के उस दानवी अत्याचार का कैसा हृदय बेधी चित्र कवि ने अंकित किया है—

"हंसों के नीड़ लगे जलने, हंसों की गिरने लगीं लाश।
नर नहीं नारियों से होली, खेलने लगा खुल सर्वनाश॥[3]

\+ \+ \+

बापू! तू कलि का कृष्ण विकल आया आँखों में नीर लिये।
थी लाज द्रोपदी की जाती, केशव सा दौड़ा चीर लिये॥[4]

बापू ने जब यह दृश्य देखा तब उन्होंने अंतर में यह आवाज सुनी कि सत्य उसे पुकार रहा है। वह कह रहा है कि आज तुम्हारे विश्वास की परीक्षा है; तुम्हारी अहिंसा की जाँच है। क्या तू आज इस दावानल में कूद कर सत्य की रक्षा करने को तैयार नहीं है? तो फिर गाँधी ने कहा कि मेरा स्थान नोआखाली है, और वह दिल्ली के स्वराजोत्सव में आशीर्वाद देने के लिए ठहरे भी नहीं। बापू की उसी मनोदशा का वर्णन दिनकर ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है जिसकी सत्यता मृदुला बेन ने प्रमाणित की थी:—

"मत साथ लगे कोई मेरे एकाकी आज चलूंगा मैं,
जो आग उन्हें है भून रही उसमें जा स्वयं जलूंगा मैं।

१. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २३०
२. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २३१
४. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २३२
५. रामधारीसिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २३२

बाभी-बाभी पर घूम घूम मैं तब तक अलख जगाऊँगा,
जब तक हृदय की सीता को तुमसे फिर वापस पाऊँगा ॥
या दे दूंगा मैं प्राण खमंडल में हो चाहे जो उपाधि,
मानवता की जो कब्र वहीं गाँधी की भी होगी समाधि ॥[1]

कवि अपनी पूजा पर लज्जित है, संकुचित है । अंगार बापू के तेज के आगे लज्जित होकर बुझ जाते हैं; माला पहनाने के हेतु हाथ उठते नहीं, वह किस वस्तु से पूजा करें:

"लज्जित मेरे अंगार तिलक माला भी यदि ले आऊँ मैं,
किस भाँति उठूं ऊपर इतना ? मस्तक कैसे छू पाऊँ मैं ।
ग्रीवा तक हाथ न जा सकते, उंगलियाँ न छू सकती ललाट,
वामन की पूजा किस प्रकार पहुँचे तुझ तक मानव विराट ॥[2]

---

१. रामधारी सिंह 'दिनकर' : बापू, पृष्ठ २३३
२. रामधारी सिंह 'दिनकर : बापू, पृष्ठ २३३

श्री राम पाठक ने बापू को अति मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करते हुए कहा :

"क्षीण काय तुम तपः पूत हे आत्मबली गति वाले,
सत्य अहिंसा के सवाक् विभुजग में ज्योति नवलतम वाले ।
दलित दासता के परित्राता मानवता के नव व्याख्याता,
शत्रु मित्र समदर्शी, करुणा दया मैत्री समता
दीनबन्धु घन माला जगती पर नव वर्षी ॥[1]

इस प्रकार से आधुनिक हिन्दी कविता में स्थान-स्थान पर गाँधी जी का प्रभाव देखा जा सकता है ।

---

१. श्री राम पाठक द्वारा रचित उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ वाराणसी के दैनिक समाचार पत्र 'आज' के ४ अक्टूबर १९६४ के अंक से उद्धृत की गई हैं।

—: ० :—

डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
हिन्दी-विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी,
(चण्डीगढ़)

"हिन्दी साहित्य : परम्परा और परख"
हिन्दी समीक्षात्मक निबन्धों के क्षेत्र में एक नवीन उपलब्धि

समीक्षात्मक निबंध-संग्रहों की आज की बाढ़ में आकर्षक शीर्षकों में लिपटे जिस किसी ग्रन्थ को हाथ में लेने का प्रयास किया जाए, प्रायः एक ही तथ्य हाथ लगता है कि उनमें कम-से-कम समीक्षा और निबंध दोनों के दर्शन कम ही होते हैं। अधिसंख्य पुस्तकें विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों का परीक्षा में बेड़ा पार लगाने के उद्देश्य से रचित-संग्रहीत होती हैं। अपने आप में यह एक बृहत् एवं सशक्त माँग की पूर्ति का सहज प्रतिफलन होने पर भी स्तरीय साहित्य में इस प्रयास के नगण्य योगदान के संबंध में संभवतः मतभेद की कोई गुंजायश नहीं। ऐसी परिस्थिति में "हिन्दी साहित्य : परम्परा और परख"[1] का प्रकाशन सुनिश्चित अपने क्षेत्र की एक नवीन उपलब्धि स्वीकार किया जाएगा।

इन निबंधों के प्रेरक तत्त्वों के संबंध में स्वयं निबंधकार का कथन है कि—"हिन्दी साहित्य और आलोचना के विविध प्रसंगों पर समय-समय पर मेरी चिन्तनधारा को अभिव्यक्त करने वाले निबंध अनेक पत्र-पत्रिकाओं—समाज, धर्मयुग, साहित्य, अवन्तिका, गवेष्णा, परिषद् पत्रिका' भागलपुर विश्वविद्यालय पत्रिका और विशेषतः स्नातकोत्तर विभाग की पत्रिका चम्पा में प्रकाशित होते रहे हैं। कतिपय निबंध विभिन्न विश्वविद्यालय-गोष्ठियों में पढ़े गए हैं और कुछ आकाशवाणी के केन्द्रों से प्रसारित हुए हैं।" समीक्षात्मक पत्रिकाओं में प्रकाश्य अथवा गोष्ठियों व आकाशवाणी केन्द्रों में पढ़े जाने व प्रसारित होने वाले लेखों के पीछे प्रेरणा व्यक्ति में जो श्रेष्ठतम है उसे प्रकाशित करने की रहती है, जिसका परीक्षोपयोगी संग्रहों में सर्वथा अभाव रहता है। और यह तथ्य इस संग्रह के उच्च स्तर का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। इस दृष्टि से इस संग्रह के निबंधों को आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल आदि की, समीक्षात्मक निबंधों की, उच्चस्तरीय परम्परा में आसानी से रखा जा सकता है।

जैसा कि संग्रह के नाम से प्रकट है, लेखक का प्रयास अपने निबंधों को एक क्रमबद्धता देने का रहा है। पुस्तक के पूर्वार्द्ध में हिन्दी साहित्येतिहास के आदिकाल एवं अपभ्रंश भाषा से लेकर 'आधुनिक हिन्दी काव्य की अध्यात्म त्रयी'(प्रसाद, 'दिनकर' तथा पन्त) तक के सम्पूर्ण कालायाम को नापने का प्रयास प्रकट है। 'हिन्दी के दीपशिखा कवि' शीर्षक निबंध में तो महाकवि कालिदास से लेकर हिन्दी के कबीर, तुलसी, पन्त तथा महादेवी तक का 'दीपशिखा कवि परम्परा' की महत्त्वपूर्ण कड़ियों के रूप में क्रमबद्ध, तर्कपुष्ट सर्वेक्षण करके भारतीय साहित्य एवं चिन्तन की सुदीर्घ अविछिन्नता को स्थापित करने का सफल प्रयास हुआ है। परम्परा के अध्येयन सम्बन्धी इन १९ निबंधों में परख, समीक्षा या आलोचना का तत्त्व किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः परख या समीक्षा ही परम्परा की क्रमबद्ध स्थापना एवं परिचयात्मक विश्लेषण का आधार है। परन्तु अन्तिम पाँच निबंध तो सुनिश्चित परख अथवा समीक्षा से सम्बद्ध हैं। "काव्य विधा के निकष पर उर्वशी का मूल्यांकन" तथा "प्राचीन काव्यशास्त्र की दृष्टि से नई कविता"

---

१. हिन्दी साहित्य परम्परा और परख—(निबंध संग्रह) डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, प्रकाशक—भारती भवन, पटना—१ प्रथम संस्करण, १९७१, मूल्य १० रुपये

शीर्षक निबंध सिद्धान्तों के व्यवहार अथवा प्रयोग के सुन्दर उदाहरण हैं, तो "आधुनिक समीक्षा : पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क," "प्राचीन समालोचना की कसौटी" तथा "रस-विवेचन" काव्यशास्त्र के कुछ नए-पुराने विषयों एवं मान दण्डों का निरीक्षण-परीक्षण करते हैं। प्रथम आठ निबंध हिन्दी के आदिकाल से सम्बद्ध हैं। अब्दुल रहमान तथा उनके संदेश रासक का परिचय संक्षिप्त होने पर भी प्रभाव-पूर्ण है। वर्णरत्नाकर, प्राकृतपैंगल, कीर्तिलता तथा कीर्ति-पताका संबंधी निबंध वस्तुतः भाषाशास्त्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र तथा पाठ एवं अर्थ तक ही सीमित होने के कारण किंचित क्लिष्ट तथा भारी प्रतीत होते हैं। फिर भी लेखक की वर्णनात्मक शैली तथा तथ्यों को मूल उदाहरणों द्वारा पुष्ट करने की प्रक्रिया इन्हें भी सूचक होने के साथ-साथ आकर्षक व प्रभावपूर्ण बना देती है। परम्परा अंश में कबीर से आधुनिक अध्यात्म प्रवन्ध-त्रयी तक के निबंध ही लेखक की निबंध-कला के शिखर के सूचक हैं। 'तुलसी की अन्तश्चेतना में कबीर' निबंध काफी हद तक नई जमीन तोड़ने का प्रयास है। "सूर का रामचरित : शुक्ल जी की कसौटी पर" सचमुच पहली नजर में तो चौंकाता है। सूर को कृष्णचरित के पदों में गायक एवं रचयिता रूप में तो अन्यतम ख्याति प्राप्त हुई है, परन्तु उनका रामचरित-कार रूप प्रायः उपेक्षित रहा है। सूर सागर के नवम स्कंध में १५७ पदों में सूर द्वारा रामचरित की रचना के उपेक्षित अंश को प्रस्तुत निबंध का उपजीव्य बनाकर आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्थापित तुलसी व सूर संबंधी कुछ आग्रहों-अत्याग्रहों का सफल निराकरण हुआ है। जायसी, कबीर, तुलसी तथा पद्माकर आदि संबंधी अन्य निबंधों में परम्परित मान्यताओं का ही अनुगमन होने पर भी कथन का सीधापन सफाई व लाघव उन्हें आकर्षक बनाता है। सीधी बात सीधे ढंग से कहना निबंधकार की बहुत बड़ी विशेषता है। वागाडम्बर का नितान्त अभाव है। तथ्यों को सर्वत्र उदाहरण द्वारा पुष्ट करना तथा वर्त्तमान समय में दुरूह अथवा अज्ञात भाषाओं के उद्धरणों को अनुवाद द्वारा स्पष्ट करके ही प्रयुक्त करना निबंधकार की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं।

इस दृष्टि से "भक्ति भावना का स्रोत : दक्षिण भारत" शीर्षक निबंध से एक उद्धरण दृष्टव्य है। इस निबंध में तर्क एवं ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर ही कथ्य का पुष्ट किया गया है, परन्तु निबंध का आरम्भ जिस वैयक्तिक अनुभव-जन्य आस्था के साथ हुआ है वह सारे निबंध को सूचक होने के साथ-साथ बहुत रोचक भी बना देता है। भक्ति के जन्मस्थान के संबंध में निबंधकार का कहना है—

"भक्ति का जन्मस्थान पद्मपुराण और भागवतपुराण की कथा के अनुसार द्रविड़देश है। द्रविड़देश भक्ति का उत्पत्ति स्थान क्यों है और इसका श्रेय उत्तरापथ को क्यों नहीं है, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा का विषय है। इसका समाधान वस्तुतः अनुभूति का विषय तभी बनता है जब दक्षिण भारत की यात्रा की जाती है और अपनी आँखों से जीती-जागती भक्ति को दक्षिण के मन्दिरों और द्रविड़-निवासियों में अब भी प्रतिष्ठित पाया जाता है। बिहार विश्वविद्यालय के हिन्दी स्नातकोत्तर विभाग (भागलपुर) के छात्रों के साथ शरत्कालीन अवकाश में दक्षिण भारत की सरस्वती यात्रा करते हुए हमें इसका प्रत्यक्षदर्शी बनने का अवसर मिला। रामेश्वर, मदुरा, तिरुचिनापल्ली आदि के मन्दिरों को देखकर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि भक्ति मूर्त्तिमती द्रविड़देश में ही है, उत्तर में तो वह बहुत कुछ पुक्ष्म और दर्शन शास्त्र का विषय है या परम्परागत अनुकरणीय रूढ़िमात्र"। यह समाज-शास्त्र एवं नृविज्ञान द्वारा अनुमोदित तथ्य है कि एक ही स्थिति के संबंध में विभिन्न जातियों का दृष्टिकोण अवचेतन रूप में तर्कप्रधान, भावना प्रधान, आदर्श प्रधान, यथार्थपूर्ण आदि हो सकता है। द्रविड़निवासियों की भावुकता व भावना प्रधानता की प्रत्यक्ष अनुभूति के बाद निबंधकार के विश्लेषण एवं तर्क में अधिक आत्मीयता, विश्वास एवं आस्था का समावेश हुआ है, जो पाठक को भी उसी प्रकार प्रभावित करता है।

निबंध संग्रह को निःसन्देह उपलब्धि कहा जा सकता है तथा निबन्धों के उच्च स्तर को ध्यान में रखते हुए लेखक की 'हिन्दी पाठकों के ज्ञान क्षितिज में कुछ भी वृद्धि होने' की कामना की अपेक्षा से अधिक पूर्ति होने को आशा की जानी चाहिए।

—:०:—

रामदेव आचार्य
अंग्रेजी विभाग,
डूंगर कालेज, बीकानेर

मूल्यांकन एक कवि का

कवि : कैलाश वाजपेयी । पुस्तक : देहांत से हटकर :

'संक्रांत' के प्रकाशन के तीन वर्ष वाद 'देहांत से हटकर' का प्रकाशन हुआ। 'संक्रांत' से कैलाश वाजपेयी ने ख्याति अर्जित की। 'संक्रांत' के कवि के स्वरों में एक नया उद्घोष परिलक्षित किया गया था। इस संग्रह की अधिकतर कविताएं मृत्यु-मुखी भंगिमाएँ तो सौंपती थीं, फिर भी उनमें रूप की विविधता और अभिव्यक्ति की सहजता थी। जब 'देहांत से हटकर' का प्रकाशन हुआ तो स्वाभाविक था कि हिन्दी का पाठक उनसे अतिरिक्त अपेक्षाएँ रखता। निराशा यह रही कि 'देहांत से हटकर' ने ऐसी किसी अतिरिक्त अपेक्षा की तुष्टि नहीं की। इसमें मृत्यु-मुखी स्वरों का पुराना ("संक्रांत" वाला) फार्मूला था। 'देहांत से हटकर' की कविताओं ने कवि के ठहराव की ही घोषणा की, यद्यपि इनमें अभिव्यक्ति समय का अंतराल पाकर प्रौढ़ हुई है। इनमें 'संक्रांत' की कविताओं-सी व्यापकता तथा विविधता भी नहीं है। एक ही तरह के केन्द्रीय भाव की अनेक आवृत्तियों ने कैलाश वाजपेयी जैसे समर्थ कवि की रचनात्मक परिधि को बहुत हद तक सीमित कर दिया है। यह उनके गौरव के अनुकूल नहीं है। उन्होंने न तो अपने मुहावरे बदले, न अभिव्यक्ति के साँचे और ढाँचे ही।

'देहांत से हटकर' की कविताओं में एक अतिवादी एकरूपता है; पीड़ा और नफरत का एक रूमानी आक्रोश-भरा नर्क लोक है। यह यंत्रणा-लोक हवाई अधिक और यथार्थवादी कम है। कैलाश वाजपेयी की रचना की दुनिया एक ऐसी दुनिया है, जिसमें न जीवन है, न मृत्यु; बल्कि जिसमें जीवन तथा मृत्यु के बीच का संत्रास है। यहाँ मृत्यु की विभीषिका को भोगते हुए भी आदमी न मरने को अभिशप्त है।

"स्पन्दन—पर्याय रहा न जीवन का।"

व्यक्ति लहरों के थप्पड़ खाता हुआ एक टूटा हुआ मस्तूल है। दुनिया तेजाब के समुद्र-सी है। युग को सन्निपात हो गया है।

"कोई भी स्थिति अब
बदतर नहीं रही।"

सब लोग दुनिया को बदसूरत करने में लगे हैं। आदमी अव्यक्ति हो गया है।

"देह—जैसे लोग किराये के तम्बू में रहते हैं।"

सब तरफ घटाटोप बोदापन है। सब तरफ लगातार बकबक है। लोग कुर्सी भक्त हैं, विदूषक हैं, धोखेबाज हैं। इन लोगों के पूर्वज भी हत्यारे, धूर्त्त, तथा ललनाकांक्षी थे।

कैलाश वाजपेयी की सीमा यह है कि चारों तरफ घृणा, दुर्गन्ध, कमीनापन तथा विष्ठा-समुद्र जैसे घिनौने अनुभवों से ही उनका साक्षात्कार होता है। कवि के अनुसार यहाँ लोग अपने ही होठों से अपना रक्त चूसते हुए अपनी उम्र राख कर देते हैं। इस सुविधा भ्रष्ट देश में नारकीय यातना सहते-सहते आदमी पागल होने की स्थिति तक पहुँच जाता है। लोगों के "लफ़ूसड़े होठों" पर घिसी-फटी बहसें रहती हैं तथा वे कोरे रें रें रें करते रहते हैं। यहाँ की भेड़िया-संस्कृति नापाम-तर्कों के सहारे पालित पोषित होती है। इस 'सूअर सभ्यता' में चारों ओर "स्वार्थ, सुरक्षा चाटुकारी, सत्तामद, ढोंग याकि जड़ता" है। यह आश्चर्य की ही बात है कि लोग बिना हत्या किए भी इन पशु-परिस्थितियों में जी रहे हैं।

"इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूं गरदन पर······
कूद जाऊं ताजे चूने के
हौज में······

अनुभव की यह दुनिया कवि के रूमानी और नाटकीय तेवर की दुनिया है, जहाँ जन्म और मृत्यु के बीच एक अजीब, अपरिभाषित विवशता फैली हुई है। कवि इतना अधिक नास्तित्त्ववादी है, कि ऐसी प्रलाप-पूर्ण उद्घोषणा भी कर देता है :—

"यह शताब्दी इतिहास का
अंतिम पड़ाव है।"

अस्तित्व-समाप्ति के पश्चात यहाँ रह जायेंगी केवल—
"योनियाँ, योनियाँ ही योनियाँ।"

घूमती हुई पृथ्वी उसकी राय में एक बहुत बड़ा धोखा है। अपने अस्तित्व के बारे में भी कवि का सर्वथा मोह-भंग हो चुका है :—

"मैं भी वही ग़लत परिणति सम्भोग की
मैं भी उत्पत्ति हूँ आह
रति-रोग की।"

अस्तित्व-हानि के साथ ही साथ कवि ने ईश्वर के मरने की भी घोषणा कर दी है। यहाँ व्यक्ति सर्वथा असम्बधित हो गया है, जिसकी काया भीतर के तक्षक ने स्याह कर दी है। अंत में कवि इस परिणाम पर पहुँचता है:—

"यह ठीक वक्त नहीं किसी के भी जीने का।
मगर ग़लत नहीं
क्या मर जाने का ?"

इस प्रकार कैलाश वाजपेयी एकरस नर्कलोक का एक-सा मुहावरा घड़ते-घड़ते ही विदा हो जाते हैं। जीवन और मृत्यु के बीच संत्रास भुगतते व्यक्ति का यह सर्वथा निजी तथा एकपक्षीय विवेचन है। इस घृणा-भरे विश्व में रहने वाले सभी लोग—स्त्री-पुरुष, संसद-सदस्य, विधायक, अफसर, नेता, कर्मचारी, साधारण-जन—सभी कवि के तीखे व्यंग्य और आक्रोश के शिकार हुए हैं। नफ़रत का यह अंदाज कहीं-कहीं इतना अधिक असंयमित हो गया है कि बहुरूपियों-सा प्रलाप बन गया है। इन कविताओं में व्यवस्था के आतंक को न झेल पाने के परोक्ष काव्य संकेत भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित किए जा सकते हैं। यह एक अच्छी बात है। यह विद्रोही आस्था का प्रश्न है।

जेठ माह की उष्ण दुपहरी में स्निग्ध वर्षा-सा कहीं-कहीं इस नर्कलोक में भी प्रियतमा का कोमल स्पर्श मिलता है, तथा प्रकृति के लावण्य के दर्शन होते हैं। पर ऐसे स्पर्श कम हैं, अधिकांश कविताओं की भंगिमा मृत्यु-मुखी है।

+ + +

कैलाश वाजपेयी की कविताओं में सबसे सबल स्वर व्यंग्य का है। वाजपेयी को यदि व्यंग्य का ही कवि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मरणासन्न संस्कृति तथा सुविधा-भोगी पिस्सू से लोगों पर कवि ने करारे कटाक्ष किए हैं, जो अपनी सहजता और अभिव्यक्ति की ताज़गी के कारण अत्यन्त प्रभावशाली हो गये हैं। कवि का व्यंग्य व्यापक है तथा उसके प्रहार के लक्ष्य हैं अफ़सर, नेता, धनी लोग, विधायक, संसद सदस्य, देश तथा सुविधा जीवी लोग। कवि के अनुसार पृथ्वी का चेहरा सभ्य बनाने का काम कसाइयों को सौंपा गया है; मशीनें दर्शन की भाषा बोलती हैं; तथा युद्ध करनेवाले देश कमर टूटने के बाद सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करते हैं। लोगों की स्थिति यह है :—

"थोक में छपी हुई
सदिच्छाएं भेजते
कनखजूरे नये साल पर;
मन करता है
मैं,
जड़ लूँ तमाचा अपने गाल पर।"

इस उदाहरण की तरह व्यंग्य में हास्य भरकर व्यंग्य को विद्रूप बना देने की कवि की आदत है। ऐसा व्यंग्य काटता भी है और गुदगुदी भी करता है। देश के लोग यदि कर्मठ हैं तो केवल बच्चे बढ़ाने में। वे सत्ता-रत मूर्खों के आगे नत-मस्तक हैं :—

"एक भला आदमी कहलाने की धुन में
पीछे एक चीज हिलने वाली
लगाली है
मेरे इस भक्ति-सने चेहरे की तुलना में
अब किसी भी मंजन का
इश्तहार जाली है।"

यह उदाहरण "रस-वचन" से है, जो पूरी कविता खुशामदी लोगों के आचरण पर चुटकी लेती है।

गणतंत्र का परिणाम यह हुआ कि "गाली देते मेमने। वर्षों से खर्राटे लेते भेड़ियों को। पुआल का गट्ठर समझ खा गये।" "बगुलों को कुर्सी पर बैठकर सिद्धांत बघारने का" मौका मिल गया।

कवि का स्वर बहुत साहसिक हो जाता है :—

"मैं देखता हूँ
कुछ लकड़बग्घे
संसद से निकलकर
पहुँच गये हैं घर रखैल के
और उधर कोई सुकरात रोज—
अंधा हो जाता है सींखचे गिनते हुए जेल के।"

यहाँ 'रखैल' से 'जेल' की तुक अभीष्ट प्रभाव पैदा करती है। कवि के व्यंग्य में गहरा आक्रोश भरा है, जिसकी पृष्ठभूमि में ग्रीस की संसद द्वारा सुकरात को दी गई सज़ा का इतिहास है।

कवि ने देश के अकर्मण्य लोगों को बहुत अच्छी तरह से परखा है, "नफ़रत भी करते थे सत्ता से। कायल थे। पूंछ भी हिलाने के।" ऐसे लोगों द्वारा व्यवस्था-विरोध या क्रांति-दर्शन की बातें भीतर से एकदम खोखली हैं। कवि के व्यंग्य की लपेट में 'अकर्मण्य व पंगु पूर्वज' भी आ गये हैं, "धर्म और दर्शन के खेत में। जो भी उग सकता था। उगा खा गये मेरे। पिता और पितामह।" "मृत्युलेख" कविता में सुविधा-जीवी लोगों के बीच मर जाने वाले एक ईमानदार व्यक्ति का दर्द है। एक धनी मित्र को पूरी कविता में यों चित्रित किया गया है :—

"बड़े बाप के बेटे हैं
जब से जन्म हुआ
लेटे हैं।"

मानवतावादी किस प्रकार लोगों से सहानुभूति रखने के प्रयास में शोषित किया जा सकता है, ऐसी कुछ स्थितियाँ छोटी कविता, "मानवतावादी" में हैं। व्यंग्य की एक सशक्त कविता, "वी० आई० पी०" है।

"रेडियो उन्हीं की
असंस्कृत आवाजें
दोहरायेगा।"

वी० आई० पी० का परिचय प्राप्त करें :—

"वैसे अलग-अलग हैं
उनकी किस्में
पर उनका एक अंश लगातार भैंसा है।"

ये लोग लोगों के लिए "एक खास वक्त पर। मौखिक रूप से दनादन मर सकते हैं।" वे आदमियों को अपनी इमारतों का खम्भा बनाते हैं। लोगों की चारागाहों में चरते हैं, वे तुम्हारी जय बोलकर। तुम्हारी ही खाल नोचेंगे।"

"नया त्रिकोण" में एक बड़ी विडम्बना पूर्ण स्थिति का चित्रण है। एक दूसरे को निगलते लोग एक-दूसरे द्वारा निगल लिए जाते हैं। "किसी के जबड़े में। किसी की पूंछ और किसी की पूंछ में। किसी का जबड़ा है।"

अंतिम कविता, "एक नया राष्ट्र-गीत" में अनेक व्यंग्य-पूर्ण प्रखर पंक्तियाँ हैं। "रिरियाती आँखों में। पेशेवर धूर्त्तता। सिर्फ़ जनक अंग चुस्त···"

गणतंत्र की हालत यह है :—

"गाँधी का शिष्य मैं
कोई अनुशासन, कानून नहीं मानता
दरअसल
मैं बुरी तरह स्वतंत्र हूँ।"

दरअसल कैलाश वाजपेयी सभी तरह के व्यंग्य लिखने में चुस्त हैं। वे साधारण चिकौटी काटनेवाला हास्य भी

लिख सकते हैं और गहरा घाव करनेवाला आक्रामक व्यंग्य भी लिख सकते हैं। अपनी व्यंग्य कविताओं की प्रेषणीय शक्ति में वे पूरे सफल हैं।

+ + +

कैलाश वाजपेयी पर काल्पनिक नर्कलोक की सृष्टि करने का आरोप भले ही लगाया जाय, पर अपनी मृत्यु-मुखी भंगिमाओं में भी उनकी मुद्रा एक विद्रोही कवि की है। उनकी कविताओं में सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियाँ उभरती हैं। संसार को यम-लोक कहकर कवि ने अपनी नाटकीयता तो प्रकट की ही है, पर यम-लोक की पृष्ठभूमि में जो कारण है, उनका सम्बंध हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अक्षमताओं से है। अतः कवि की मृत्यु-मुखी दार्शनिकता परोक्ष रूप से व्यवस्था की कुरूपता पर प्रहार करती है। इस अर्थ में वे विद्रोही कविताएं बन जाती हैं:— "बेशुमार आँखों की नींद। थोड़े लोगों की सुविधा है।"

अनेक कविताओं में व्यवस्था पर सीधा-स्पष्ट प्रहार है:—"देश : एक शोक-गीत", "शल्य चिकित्सा," "विमुक्त-शती के लोगों से," "ईश्वर-भक्त," तथा "एक नया राष्ट्र-गीत" जैसी कविताओं में।

चुनौती का स्वर यों है, "उदय होने दो। मुझे अब जन्म लेने दो। मैं हताश देश का अस्त संस्कार हूँ।" कहीं अत्याचार और नपुंसकता के खिलाफ चीख है:—

रोज़ एक गाँधी, सुकरात और ईसा के
वध से भयभीत मैं
वृहन्नला भीड़ों में
किसको आवाज़ दूं
जो मेरी आँतों में
घाव करती है
ऐसी रोटी का क्या करूं ?

एक अकर्मण्य ईश्वर भक्त को कहा गया है, "ईश्वर तो नहीं ही है। सहा नहीं जाता अन्याय अगर। तब यह बदबू भरी। माँस और हड्डी की कोठरी छोड़ दो। रें रें रें मत करो। वह तो नहीं ही है।" कहीं-कहीं पशु-परिस्थितियों के बीच में जीने वाले नपुंसकों के खिलाफ असीम घृणा है, 'गाली देना। हम पर थूकना। कि पशु-परिस्थितियों के बीच भी। हमने उम्र काट दी हत्या किए बिना।" व्यवस्था की पंगुता का नंगापन, "एक नया राष्ट्रगीत" में पूरा प्रदर्शित है:—

मूर्ख हैं जो कहते हैं
कल मैं मर जाऊंगा
दीमक का वंश
भला कभी मरता है ?

+ + +

जादू है न ?
जादू—
मैंने बनाये थे बाँध जो
बह गये
फिस्स हो गये कारतूस ऐन वक्त पर।...

+ + +

मेरे यहाँ कोई खास फ़र्क नहीं
ट्रांजिस्टर सुनते हुए धोबी
लेखक
बैरिस्टर
सौदागर या नेता में।

+ + +

"देहांत से हटकर" में कुछ दूसरी तरह की कविताएं भी हैं। ऐसी दो कविताएं हैं "शीत युद्ध," और "ईश्वर भक्त," जिनकी कसी हुई अभिव्यक्ति में दो नयी परिभाषाएं हैं।

"कामना कुमारी," "समुद्र अवचेतना," और "अहं मुक्ति" जैसी कविताएं कवि की प्रयोग-क्षमता सिद्ध करती हैं। "कामना कुमारी" की चेतना किसी लोक-कथा पर आश्रित है और कामना के लोभ की ओर इंगित करती है। "समुद्र अवचेतना" एक सशक्त प्रयोग है। यहाँ शब्दों में अवचेतना को बाँधने का प्रयास है:—

आधी रात
पूरी पृथ्वी
आधी पूरी, पृथ्वी रात
पृथ्वी पृथ्वी रात रात
डूब जा
डूब डूब डूब डूब जा

यह कविता अवचेतन मन का मीठा संगीत बन गयी है। तंद्रिल अवचेतना का पूरा चित्रण कविता में है, पर इसका अंत सुघड़ नहीं है। "अहं मुक्ति" में भी मौलिक उक्तियाँ हैं, "उतर आ लकड़ी के चकरवाज़ घोड़े से। फेंक दे यह झुनझुना। मैं तुम्हें लोहे की गोली दूंगा।"

'अंशुधर' कविता अकृत रचना की सम्भावनाओं को समर्पित है। यह भी एक प्रयोग है।

'सोनमर्ग' और 'हवाई अड्डा' अपने ताजा बिम्बों में बहुत आकर्षक हैं। "हवाई अड्डा" में "एल्युमिनियम के हंस" का बिम्ब बहुत सुन्दर है। 'सोनमर्ग' की प्रकृति का खुमार कवि ने अपने निजी शिल्प-कौशल से रचा है :—

"यहाँ सब कुछ खूबसूरत है
यह सब पी लेने के लिए रोम-रोम में
आँख की जरूरत है।

इस कविता का अंत एक विचित्र तथा अनावश्यक हास्य-मुद्रा में होता है, जो कविता के सौन्दर्य को बिगाड़ती है।

ये चंद कविताएं कवि-प्रिया को समर्पित हैं:— "एक स्वीकारोक्ति," "रिफ्लेक्स," "वैयक्तिक क्षण," "कृतज्ञ अभिव्यक्ति" तथा "शर्त"। इनमें कविता की मिठास है और कवि- मन की कोमल सरसता है। "एक स्वीकारोक्ति में "अकस्मात गोरी फ़ुहार सा तेरा स्पर्श" काव्यमय पंक्ति है। "शर्त" में "मैं तुझे रक्त की आखिरी बूंद तक दूंगा" जैसी समर्पण की प्रतिज्ञा है। "रिफ्लेक्स" इस समूह की महत्त्वपूर्ण कविता है, जिसमें अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है:—

तुम यदि चुप हो जाओ
पागल हो जाये पूरी शताब्दी।

\+ \+ \+

यह तुम्हारी किलकारी है
कि ओस ढलती है
अंगड़ाई है
नदीं चलती है।

"वैयक्तिक क्षण" में प्रियतमा से दुलार पाने पर यह अनुभूति होती है:— "होठों से उठे एक लय। केका पंखी- और छा जाये पूरे अंतराल में।" "कृतज्ञ अभिव्यक्ति" में जिन्दगी के हारे-थके-बुझे क्षणों को प्रियतमा के परस से जीवित रखने की कृतज्ञता स्वीकारी गयी है। इसके अंत में भी, "रानी इस घर की" कहना बासीपन है।

"दो चौखटे," "निर्वाक स्वीकृति" जैसी कविताएं कविता की सरसता से रिक्त प्रेरणा-हीन साधारण कविताएं हैं।

संग्रह में कुछ चौंकाने वाली कविताएं भी हैं, जिनमें दम नहीं है:— "एक खबर," "एक निरुक्ति," "कविता," "विपर्यय," "रिश्ता," तथा "एक कुतर्क"।

\+ \+ \+

संग्रह की सशक्त कविताओं के बारे में ऊपर लिखा गया है। अन्य अच्छी कविताएं हैं:— "स्नायुघात," "विधेयवादी की चीख" "देश—एक शोक-गीत", "गोरख धंधा", "मिथ्याचार", "दहशत", "प्रतीपों के जंगल में", "नगण्य ऐतिहासिक", "वी० आई० पी०", तथा "एक नया राष्ट्रगीत"।

कैलाश वाजपेयी प्रतीकों का जमकर प्रयोग करते हैं। उनकी चेतना में विज्ञान, पुराकथाएं, इतिहास लोक-कथाएं आदि हैं, जो उन्हें अनेक प्रतीक देते हैं। कविता के वर्त्तमान रुख को देखते प्रतीकों का यह अधिकाधिक प्रयोग प्राचीन संस्कार माना जायेगा। कविता की अभिव्यक्ति यदि अलंकरण-हीन होगी तो वह जिन्दगी के अधिक करीब होगी। "तक्षक" "सुकरात", "मज्झिम निकाय," "नापाम" जैसे अनेक सन्दर्भों से संकेत उत्पन्न करना कोई अपूर्व काव्य-क्षमता नहीं है।

वाजपेयी जी में शब्द-रूप गढ़ने की अनोखी प्रतिभा है। यथा:— पशु-परिस्थिति, सूअर सभ्यता, विमुक्त शती, नापाम तर्क, सभ्यता की फ़िहास, तेज़ाबी सम्पर्क, सर्प तथ्य, पिस्सू घाटी, घोंघा भीड़, बृहन्नला भीड़, कोलतार का समुद्र, तथा सूर्याकृति केकड़ा।

यह शब्द-निर्माण एक ओर कवि की रचनात्मक क्षमता की ओर इंगित करता है, दूसरी ओर उसके संस्कार की प्राचीनता को भी सिद्ध करता है। यह शब्द-मोह वास्तव में भावुकता का मोह है, एक प्रतिनिधि कवि को इस मोह से अलग होना चाहिए।

कवि को भाषा के प्रति अतिरिक्त आसक्ति है। इन कविताओं के शीर्षक इस मोह के साक्षी हैं:— "विवर-यात्रा' "गर्हित गाथा", "निर्वाचन विपरीत रति", "नास्तित्त्व के बाद", "रोगेच्छा," "प्रतीपों के जंगल में", "एक निरूक्ति", "विमुक्त शती के लोगों से", "निर्वाक स्वीकृति," "नगण्य ऐतिहासिक", "व्याहत सुबह के अंधेरे में", "अंशुधर", "विबोध", "युगनद्ध", "विषकम्भक", आदि-आदि। ऐसे ही सुसंस्कृत या क्लिष्ट शब्द इन कविताओं में भी यत्र-तत्र बिखरे हैं। कुछ उदाहरण ये हैं:— ऋणात्मा, यातुधानी, सान्द्राशक्ति, क्षुणाक्षर, नीतीतरता, गर्वोद्धत, रेतस्, योषा, ईहा, पुरुषायी निबद्ध, स्थाणु, निक्षिप्त, अहेतुक, आदि-आदि

वाजपेयी जैसे कुशल कवि से यह तथ्य छिपा नहीं होगा कि कविता भाषा की क्लिष्टता में न होकर भाव की अंतरंगता में होती है। फिर इस भाषा-प्रयोग को क्या ज्ञान प्रदर्शन करने की लालसा समझा जाये?

कवि में मौलिक बिम्ब उभारने की प्रयोग-क्षमताएं हैं। कहने का एकदम व्यक्तिगत ढंग है:— "हर शाम फोड़ों की तरह मुझे चीरकर। कविताएं निकलती रही।" "अजब कोयले की। खान है दुनिया। जो भी आता है। विरंगा हो जाता है।" "देह से देह बनाने वाली देह की तलाश।" "सूरज के सूरज। रोज गगन वृक्ष से। पककर। झरते रहे।" "मन विभक्त नहीं हो सका। पदार्थ की तरह।" आदि-आदि।

\+ \+ \+

पुस्तक का नाम "देहांत से हटकर" के स्थान पर "देहांत से सटकर" होना चाहिए। पुस्तक की अतिवादी नारकीय कल्पनाएं यही प्रभाव सौंपती हैं। इन कविताओं का आदमी विश्वसनीय आदमी नहीं है। वह चीखता-चिल्लाता, यंत्रणावादी रटे-रटाये मुहावरे दुहराता काल्पनिक प्राणी है, जो "तेजाब के समुद्र" या "चूने के हौज" में गिर जाने की-सी वेदना भोग रहा है। इन कविताओं का जगत मृत्यु के बहुत करीब बसा हुआ जगत है, जिसमें जाने-पहचाने फार्मूले मृत्यु और संत्रास की नाटकीय घोषणाएं करते जाते है। संसार की क्रूरता के बारे में ये घोषणाएं अनुभूति की कोख से नहीं जन्मी हैं, यह नारेबाजी का प्रभाव कविता की मुहावरेबाजी में है। मृत्यु-मुखी यंत्रणा को कैलाश वाजपेयी ने इतना अधिक विद्रूप बना दिया है कि इन स्वरों का आक्रोश पाठक का स्पर्श नहीं करता। वह पहले से ही जानता है कि वाजपेयी जी चूना, तेजाब, पिघलता शीशा, गन्धक, लावा, नागपाश जैसे शब्दों से एक कृत्रिम पीड़ा का मानचित्र तैयार करेंगे, करते जायेंगे, चाहे उसकी आवृत्तियाँ उनके अपने ही शब्दों में पाठक को यह अनुभूति दें:—

> यह कहते-कहते भी
> तंग आ गया हूँ
> कि तंग आ गया हूँ।

स्वर की एकरसता का ही कारण है कि संकलन की कई कविताएं गद्यात्मक सपाटता ढो रही हैं। ऐसी अभिव्यक्तियाँ कविता के पाठक को अभिभूत नहीं कर पातीं:— "दुनियाँ में। बहुत रोग हैं। काश मुझे भी। कोई लग जाये।" "मेरे दिमाग में ततैयों का छत्ता। होठों पर कनखू जरा चिपका है।" "जो भी जहाँ भी है। अब बीमार है। सभी को। किसी न किसी तरह का बुखार है।" "मुझे पता नहीं। कब्र। कहाँ होगी ईश्वर की। वरना अपनी खाल छीलकर। खून भर देता मैं। उसके कंकाल में।" "इस भगदड़ में जो पहले कुचल जाए, अच्छा है।"

ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्तियाँ कविता की गहराई का संकेत न देकर केवल फैशनपरस्ती का इज़हार करती हैं।

वाजपेयी जैसे कवि से चालू पैटर्न से अलग हटकर मौलिक तेवर की रचनाओं की अपेक्षा करना हिन्दी के पाठक की जायज़ माँग है।

—:o:—

डा० सिद्धेश्वर वर्मा
२८४, सेक्टर-१६,
चण्डीगढ़

गोसटि गुरु मिहरिवानु[1]

सुहृद्वर,

आपके दो कृपा पत्रों न. ५ एम ई एस ७१ तथा ७ एम ई एस ७१ की सामग्री को देखकर मैं बहुत प्रसन्न और लाभान्वित हुआ। निस्सन्देह यदि योजना पूर्वक तथा व्यवस्थित रीति से इस सामग्री का अवगाहन किया जाए, तो भाषिक, साहित्यिक और दार्शनिक अनेक लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इस दृष्टिकोण से मैं अपना विमर्श प्रारम्भ करता हूँ।

१. प्रारम्भिका

इस संकलन में ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार की सामग्री विद्यमान है। स्थूल दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञात-पक्ष कम है और अज्ञात अधिक। यदि यह ठीक है तो आपके अहोभाग्य हैं।

२. पाण्डुलिपि के सम्पादन की योजना

जर्मन कवि गौइटे ने कहा था कि हम करने से ही सीख सकते हैं (We know by doing)। यह किसी हद तक ठीक तो है परन्तु आजकल की तकनीकी छलांग की मांगें प्रतिदिन भयानक बन रही हैं। इन मांगों की पूर्ति एक टेढ़ी खीर होगी।

इस योजना के निर्माण करने के लिए निम्नलिखित बातों का ध्यान विशेषतः आवश्यक होगा।

(क) **पाण्डुलिपि की भाषिक विशेषताएं**—इस पाण्डुलिपि की भाषा के दो पक्ष हैं। एक स्थिर दूसरा अस्थिर। यह भाषा बन रही है, जिसे जर्मन में gangig (चल रही) कहते हैं। इसकी असंगतियों को छेड़ना भयावह होगा। उदाहरणार्थ चिट्ठी नं० ७ के पृष्ठ ६ में तो "जो" के लिए "जि" आया है। परन्तु पृष्ठ ७ में "जु" का प्रयोग हुआ है। इस पृष्ठ की पंक्ति में "को" और "कंउ" दोनों का प्रयोग हुआ है। ऐसी अवस्था में सम्पादक "शोधक" का कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकता।

हाँ, एक बात अवश्य है कि यदि किसी वैकल्पिक प्रयोग की संख्या बहुत ही कम हो, तो उसका 'शोधन' करके एकरूपता लाई जा सकती है।[2]

(ख) **ध्वन्यात्मक विशेषताएं**—इसकी ध्वन्यात्मक विशेषताएं इतनी दिलचस्प हैं कि इन पर अलग निबंध लिखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थः—

(ग) अन्तिम अपभ्रंश "उकार" का इस भाषा में इतना

---

१. हिन्दी विभाग की सम्पादन योजना के तत्त्वावधान में इस पाण्डुलिपि के मूल-पाठ का सम्पादन हो रहा है। इस ग्रंथ के रचयिता "हरि जी" हैं तथा सत्रहवीं शती के प्रारम्भिक दशकों में इसकी रचना हुई है।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपने एक पत्र (दिनांक २ जून ७१) में लिखा कि इस 'सामग्री' को देखकर 'मेरे मुंह में पानी भर आया। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से इस 'गोसटि' के कुछ अवतरण पढ़े और यह एक और पत्र हमें लिखा। 'गोसटि' के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिए उनका यह पत्र एक दिशा संकेत है।

—(डॉ० गोविन्द नाथ राजगुरु)
: सम्पादक

२. 'गोसटि' की तीन भिन्न-भिन्न प्रतियों के पाठ के आधार पर पाठान्तरों, वैकल्पिक रूपों तथा अन्य 'असंगतियों' पर विचार किया जाएगा। संपादक।

संचार हो गया था कि "नानुकु"[1] "वाहुगुरू" "उकार" अन्य अक्षरों में भी जा पहुँचा था।

(घ) पृष्ठ ३ में "अरिजुनु" का उच्चारण उस युग के स्वराघात पर बहुत दिलचस्प प्रकाश डालता है। जहाँ आजकल पंजाबी 'अर्जुन' में केवल दो ही अक्षर हैं, वहाँ 'अरिजुनु' से अनुमान किया जा सकता है कि उस युग के उच्चारण में अक्षरों के स्वराघातों में बहुत कुछ समता थी। इस प्रकार के अन्य शब्दों को एकत्र करना भी लाभकर होगा।

(ङ) नं० ७ चिट्ठी, पृष्ठ १, पैरा ३, में 'विज्ञान' के लिए 'विजान' बतलाता है कि इस उच्चारण में 'ज्ञ' का 'ज' पक्ष अभी सुरक्षित रहा था।

३. पाण्डुलिपि के सर्वनाम

किसी भाषा के सर्वनाम उसके सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग हुआ करते हैं। क्योंकि उनकी प्रायिकता : फ्रीक्वेंसी : अत्यधिक होती है। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सर्वनामों का व्यवस्थित रीति से संचय किया जाये।

४. जहाँ इस पुस्तक के व्याकरणिक रूप पंजाबी से भरपूर हैं, जैसे, पृष्ठ ७ में 'छिया सता महीनिआ' का होइआ वहाँ वाक्य रचना इस पुस्तक की स्पष्ट खड़ी हिन्दी की जतलाती है, जैसे पत्र नं० ७ पृष्ठ, २ उपजेगी, होती जाएगी पृष्ठ ३ अन्तिम पैरा, 'जि कोई समझेगा, तिसका भला होगा'।

---

१. उकार बहुलत्व अपभ्रंश का प्रमुख लक्षण बताया गया है। पंजाब की प्राचीन कृतियों में भी उकार बहुलत्व कम नहीं है। १९ वीं शती के अन्त तक 'उकार बहुल' रूप बराबर मिलते हैं। कई यूरोपियन—विशेषतः अंग्रेज-लेखकों ने 'नानकु,' 'नानुक' और 'नानुकु' शब्द प्रयुक्त किए हैं :—

श्री डब्ल्यू० वार्ड ने 'ए व्यू आफ दि हिस्ट्री, लिट्रेचर एण्ड रिलीजन आफ दि हिन्दूजः श्रीरामपुर : १८१५' में 'नानुकु' शब्द प्रयुक्त किया है।

सर डब्ल्यू० एम० जेम्स ने 'दी ब्रिटिश इन इंडिया; १८८२: में, 'दी हिस्ट्री आफ दीब्रिटिश सैटलमैंट इन इंडियाः १८५५' में तथा जनरल सर चार्ल्स गफ ने 'दी सिक्ख एण्ड दी सिक्ख वार्सः १८९७' में नानुक शब्द प्रयुक्त किया है।

५. वर्णन की सम्यकता—

वर्णन में अद्भुत सम्यकता प्रतीत होती है। देखिए नं० ७ के साथ पृष्ठ ३ में गुरु अंगद की गद्दी का काल १३ वर्ष, ५ महीने और २९ दिन बताए गए हैं तथा पृष्ठ ५ में सन्त परम्परा के यह ब्यौरे बहुत ही दिलचस्प हैं:—८४ सिद्ध, ५२ वीर, ६४ जोगना, ९ नउनाथ।

मुझे पता नहीं इन ब्यौरों की यथार्थता की परख के लिए आपके पास क्या क्या साधन हैं। संभवतः यह एक नया क्षेत्र हो जिसके लिए कुछ योजना अपेक्षित हो।

६. सांख्य प्रवृत्ति की झलक

चिट्ठी नं ५ के साथ पृष्ठ ५, पैरा नं० २, पंक्तियाँ ३-५ में कहा गया है, 'दुष सुष इसु आतमे कंउ गुणां के संग करि करि है'। इस प्रकार के वचन यदि और भी उपलब्ध हो सकें तो दार्शनिक प्रवृत्तियों की एक व्यवस्थित सामग्री आपके हस्तगोचर हो सकती है।

७. परस्पराश्रयता का महत्व

नं० ५ चिट्ठी, पृष्ठ ४, पैरा ३ में पदार्थों का परस्पराश्रित होना इस प्रकार दर्शाया गया है —

'एतु जुगति है जैसे तागे विषे मणके अरू मणक्रिआं विषे तागा परूना' इस प्रकार का ठोस दृष्टिकोण हमें जतलाता है कि इससे अन्य भी उपयोगी सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

८. साहित्यिक कल्पना

नं० ७ की चिट्ठी के पृष्ठ ४ में यह बताया गया है कि 'जिस क्षण में मिहरवानु का जन्म हुआ, उसी क्षण में जो कोई भी उत्पन्न हुआ वह भी भक्त सिद्ध हुआ। अतिशयोक्ति तो यहाँ स्पष्ट ही है परन्तु ग्रन्थकी साहित्यिक प्रवृत्ति को जतलाती है जिससे आशा की जा सकती है कि यह पुस्तक केवल घटनाओं का सूची-पत्र नहीं है। इसमें साहित्य रस भी है।

९. उपसंहार

आज कल के साहित्यिक संसार की मांग प्रचुर अनुक्रमणिकाओं के लिए है। देखिए : राजवाडे द्वारा सम्पादित निरूक्त।। परन्तु ऐसे आलीशान काम के लिए अनेक साधन अपेक्षित हैं, जो मेरे प्रकरण से बाह्य हैं।

अभ्युदयाकांक्षी,

हस्ताक्षर : (सिद्धेश्वर वर्मा)

डॉ० गोविन्द लाल छाबड़ा
WZ-११५, शिवनगर,
नई दिल्ली-१८

रीतिकाल का अलभ्य भक्ति-ग्रन्थ
"शान्त शतक"

महाराज विश्वनाथ सिंह[1] की यह रचना सरस्वती भंडार, रीवा के बस्ता नम्बर २५ स्टाक नम्बर १६७ में अपने मूल रूप में अखंडित सुरक्षित है। इस रचना की प्राप्त प्रति सतासी पत्रों की है। ग्रन्थ का रचना काल लेखक के अनुसार संवत १६११ है।[2] इसी संवत् में महाराज का स्वर्गवास हुआ था। हमारे विचार में यह महाराज की अन्तिम कृति है।

प्रामाणिकता विचारः—

महाराज की इस रचना की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। 'मिश्रबन्धु विनोद' एवं 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में तो 'शांतशतक' को रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव निर्मित माना ही गया है,[3] महाराज के आश्रित कवि 'खास कलम' जुगलदास युगलेश ने भी 'विश्वनाथ सिंह चरित्र' में महाराज की इस रचना का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

"हनुमत पैंतीसी औ सिकार राम बरनन
सांत सतक हूँ तत्वप्रकास मानिये ॥[1]

महाराज विश्नाथसिंह जू देव के सुपुत्र महाराज रघुराजसिंह जू देव ने भी अपने प्रमुख ग्रन्थ 'भक्तमाल' ('रामरसिकावली') में 'शांतशतक' को महाराज निर्मित रचनाओं के अन्तर्गत माना है—

"विनयमाल रचि प्रथम फेरि आनन्द रामायन।
गीतावलि नाट कौ अनंद रघुनंदन चायन।
शांतशतक व्यंग्यप्रकाश कृष्णावलि काहीं।"[2]

रचना में रचयिता ने अपने नाम का भी उल्लेख यत्र-तत्र किया है। प्रमाणार्थ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(क) "आगे पूजनीय गजवदन सुवन जाके हनुमान दूजौ राम कह्यो विध्मु अधिकै, जगत मी जननी सो गौरी जाकी धरनी है

वाहन ह्वै बैल धर्म रह्यो द्वार बाधिकै ॥
धरे धरा जोई सेस अहै अलंकार अंग जावै
पालै जोई विश्व सदा बधि बधिकै ॥
सोई विश्वनाथ गुरूपद विश्वनाथ माथ
धरे लक्ष्यो नीके रघुनाथ नेह नधिकै ॥"[3]

---

१. महाराज विश्वनाथसिंह का जन्म बैशाख शुक्ल १४, संवत १८४६ वि० (१७८६ ई०) तथा निधन कार्तिक कृष्ण सप्तमी, शुक्रवार को संवत १६११ (१८५४ ई०) में ६५ वर्ष छः माह की अवस्था में हुआ। ये पिता के सुदीर्घ जीवन काल में ही राज्य शासन का सर्वाधिकार पा चुके थे। इनका राज्यकाल संवत् १८८६ से संवत १६११ विक्रमी पर्यन्त है।

२. "…मुक्तिप्रद शांत शतक समाप्तं संवत १८११।" शांत शतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भंडार, रीवा, पत्रा-८७

३. (क) मिश्रबन्धु विनोद (तृतीय भाग) संस्करण सं० १६८५, पृष्ठ १०२३
(ख) हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, बारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ३१८

१. विश्वनाथसिंह चरित्र, जुगलदास युगलेश, पृष्ठ ५२
२. भक्तमाल (रामरसिकावली), रघुराजसिंह, चतुर्थबार पृष्ठ ६८८
३. शांत शतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भंडार, रीवा, पंख—।

(ख) "नाथ विश्वनाथ को समर्थ रघुनाथ
विनध्याये भूत नाथ हाथ परे पछितै हैरे ।"[1]

(ग) "मोलिकै अभिलषै विस्वानाथ
वृथा ही करै ममता अहंकारे ।"[2]

ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका से भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता प्रामाणित होती है। अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री सिद्ध श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा बहादुर सीता रामचन्द्र कृपापात्राधिकारि विश्वनाथसिंह जू देव कृत मुक्ति प्रद शांत शतक समाप्तं ·।"[3]

महाराज सहिष्णु रामभक्त थे। उन्होंने कबीर के बीजक की टीका सगुण भक्ति को आधार बनाकर ही की थी। इसी प्रकार की दृष्टि 'शान्त शतक' में भी व्यक्त हुई है। महाराज की दोनों रचनाओं से कुछ स्थल प्रस्तुत किए जाते हैं—

"·· श्री राम नाम को अनूप जो कह्यो ताते काशिहू में श्री शिव जू मुक्ति देह है सो राम नाम हि सुनाई कै देइ है राम नाम बिना मुक्ति हई नहीं है यह व्यंजित भयो।"[4]

\+ \+ \+

"···क्षत्रपति जे श्री रामचन्द्र है तिन को वक्षस्थल में तो ध्यान करू तो तेरी परलय जनन मरण क्षणै में मिटि जाइ।"[5]

\+ \+ \+

"···तब रघुनन्दन दया करै है तब या जीव माया ते छूटैं है औरी भांति नहीं छूटै है।"[6]

\+ \+ \+

"···माया ते छोड़ाय लावे में समर्थ साहब ही हैं और कोई न छोड़ार सकैगो नेहिते परम पुरुष श्रीरामचन्द्र कों भजन करू···।"[1]

ग्रन्थ में प्रमाण देने की शैली तथा कथारूप में समझाने की तुलना भी महाराज के अन्य ग्रन्थों से की जा सकती है। इस दृष्टि से महाराज द्वारा निर्मित 'ध्रुवाष्टक सतिलक' (पुर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध) तथा 'पाखंडखंडिनी कबीर बीजक की टीका' अवलोकनीय हैं। तुलनार्थ कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

"···और तौ सब काल ही के वश है तो को कहां उवारै गे
···विश्वनाथ जे महारुद्र है तो काल हू के काल है तामै प्रमान ॥
गंगाधरो ललाटाक्षः काल कालः दयात्रिधि···।"[2]

\+ \+ \+

"···तामें प्रमान गीता को ॥
ब्रह्म भूतः प्रसन्नात्मान···।"[3]

\+ \+ \+

"···तामें प्रमाण व्यास सूत्र ॥
भोग मात्र साम्यलिगात्···।"[4]

\+ \+ \+

"···तब नाना उपद्रव ढावै है तामे एक कथा है ॥
एवै कोई साधु रहै पांच सात···।"

\+ \+ \+

"···तिस्मे इतिहास जिरोहो के विजय बहादुर के यहाँ दस पाँचन को भेजा···।"

\+ \+ \+

---

१. शांत शतक, विश्वनाथ सिंह (हस्तलिखित), सरस्वती भंडार, रीवा, पत्रा १४
२. वही, पत्रा ३०
३. वही, पत्रा ८७
४. वही पत्रा ८
५. बीजक कबीरदास सटीक, विश्वनाथसिंह कृत, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ४१४
६. वही, पत्रा-३१

१. बीजक कबीर दास सटीक, विश्वनाथ सिंह कृत नवल किशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित,पृष्ठ २६३
२. शांत शतक विश्वनाथसिंह (हस्तलिखित), सरस्वती भंडार, रीव, पत्रा-१५
३. शांत शतक, विश्वनाथसिंह (हस्तलिखित), वही पत्रा-३५
४. बीजक कबीरदास सटीक, विश्वनाथसिंह कृत नवल किशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ४४०

ग्रन्थ में यत्रतत्र प्रथम पुरुष का प्रयोग भी इस मत की पुष्टि करता है कि 'शांत शतक' नामक रचना महाराज की स्वयं की बनाई हुई है। दो अवतरण और द्रष्टव्य हैं—

"····और समाधि विधि हमारे रामायन में वहुत है अयोध्या कांड में ते आदि पद ते सब आई···।"[1]

\+ \+ \+

"···याको बिस्तार मेरे किए राम मंत्रार्थ में है···।"[2]

इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य दोनों से सिद्ध होता है, कि शांत शतक' नामक रचना महाराज विश्वनाथ सिंह जूदेव की ही निर्मित है।

प्रतिपाद्य—

जैसाकि ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है, इसकी पद संख्या सौ है। उपलब्ध प्रति में पद विस्तृत व्याख्या सहित लिपिबद्ध हैं। विषय की दृष्टि से प्रतिपाद्य रचना तीन भागों में विभक्त है—(१) वैराग्य खण्ड, (२) ज्ञान खण्ड, (३) भक्ति खण्ड। प्रथम खण्ड में ३६ तथा शेष में बत्तीस-बत्तीस पद हैं। रचना का आरम्भ मंगलाचरण एवं गुरुवन्दना से होता है—

"सिय रघुनन्दन सरस्वती गौरी शंभु गनईश।
हनुमान हरि गुरू प्रियादास चरण धरि सीश॥"[3]

हनुमान-स्तुति, शिववन्दना, सरस्वती-गुणगायन आदि के पश्चात् प्रथम भाग अर्थात वैराग्यखण्ड के मुख्य विषय का आरम्भ होता है। इस खण्ड के छत्तीस पदों में राम नाम महिमा, सांसारिक विषय विकारों से छुटकारा पाने के उपाय, अधर्म तथा अनीतियों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नरक का वीभत्स एवं भयावह चित्रण, भक्त एवं संत संगति से भव-सागर-पार करने के उपाय, माया से छुटकारा पाने के पश्चात प्राप्त होने वाले सुखों एवं मानव देह की क्षण भंगुरता का विस्तृत वर्णन है। इस खण्ड में ही प्रसंगवश

१. शांत शतक, विश्वनाथसिंह (हस्तलिखित) सरस्वती भंडार, रीवा, पत्रा - ३७
२. वही, पत्रा-४०
३. वही, पत्रा-१

जीव-ब्रह्म सम्बन्ध पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। राम-नाम के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लेखक ने बताया है कि राम-नाम ही मानव मात्र का कल्याण कर सकता है। राम-नाम मुक्ति का साधन है—

"रक्षक राम नामई है,
सब ठौर में अरु मुक्त को धरई है॥"[1]

\+ \+ \+

"····जनम मरन राम नाम ही के छोड़ए छुटे है औरी भांति नहीं छुटे हैं।···राम नाम बिना मुक्ति हई नहीं है।"[2]

राम नाम के महत्त्व का प्रतिपादन रचनाकार ने 'शान्त शतक' के वैराग्य खण्ड में अनेक स्थलों पर किया है। एक स्थल पर कहा गया है—

काह भयो जो गयो नभ में उडि काह भयो महि में निधि-डीठे।
काह भयो वहुं भाष्यो जो भूत भयो कहु काह रचे रचि चीठे।
काह भयो जो भयो तपसी अति धूप सह्यो वहु वारि अंगीठे।
काह भयो सिधि वाकि भये,अरे राम के नाम बिना सब सीठे[3]

संसार की असारता का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने विकारी-प्राणियों को अविकारी होने, विषय-वासनाओं से मुक्ति पाने एवं वैर-विरोध का भाव त्यागने का उपदेश दिया है। कवि ने इन समस्त कुरीतियों के विनाश का एक मात्र साधन भगवद्भक्ति को बताया है। इस प्रसंग में वह लिखता है—"रूप देखै तौ श्री रघुनन्दन को रूप देखै अरु रसास्वादन करै तौ श्री रघुनाथ जी की प्रसादी आस्वादन करै अरु सुगंध सूघैं तौ श्री रघुनन्दन जी को निर्माल्य तुलसी मालादि ताको सूघैं अस्परस करै तौ रघुनन्दन जी के चरणारविंद अस्परस करै अरु शब्द सुनै तौ श्री रघुनन्दन जी के गुणानुवाद सुनु।"[4] यह संसार नाशवान एवं मानव-देह क्षण भंगुर है।[5] मानव-देह अति

१. शांत शतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्रा-४
२. वही, पत्र—४,८
३. वही, पत्रा ६
४. वही, पत्रा ९
५. वही, पत्रा १८

दुर्लभ है। व्यर्थ के विषय-विकारों में पड़ कर इस पवित्र मानव शररी को गंवाना ठीक नहीं।[१] संसार तो मोह का पुंज एवं विषय-विकारों का कूप है। छुटकारा पाने का सतत प्रयत्न आवश्यक है। इस भव-सागर से छुटकारा दिलाने वाला एकमात्र साधन राम-नाम ही है। अतः "नेत्रन ते रघुनन्दन की प्रतिमानि का दरस करै श्रवन ते कथा सुधै रसना ते नाम जपै प्रसाद पाइ नासिका ते निर्माल्य तुलसी सूघै त्वचा से साधुन के चरनन को अस्परस करै अरु मनादिकन ते रघुनन्दन के अस्मरन करै औ उनको चरनोदक सर्वांग अस्परस करै।"[२]

माया के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए महाराज अपनी इस रचना में लिखते हैं कि माया ही ईश्वर प्राप्ति में बाधक है। माया ही के कारण मानव एक से अनेक होने की कामना करता है।[३] माया ही के कारण मानव सांसारिक विषय-विकारों में लिप्त है और भगवद्-भक्ति में अपना मन नहीं लगाता।[४] माया से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन भगवद्-भगति है। रघुनाथ की कृपा के बिना मानव माया-मोह के पाश से छुटकारा नहीं पा सकता—

"...रघुनाथ दया करै है तब या जीव माया ते छूटै है औरी भांति नहीं छूटै है।"[५]

वैराग्य खण्ड के अन्त में लेखक ने जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध पर संक्षेप में विचार व्यक्त किए हैं। रचनाकार के अनुसार जीव ब्रह्म का ही एक अंश है।[६] आत्मा और शरीर से सर्वथा भिन्न है।[७] कर्मफल के अनुसार मानव पुनर्जन्म लेता है—"जैसी कर्म करि राषत है जीव तैस ही फल पावै है।"[८] एक स्थल पर वे लिखते हैं—

"सुष दुष पावै जस कीन्हें कर्म पुरुष के
ताही अनुसार बुद्धि होती यह प्रानी की,
ताही हेत आइ जग नाना मत गहि लीन्हो
वाही अनुरूप वाद वादै वेद वानी की"[१]

अन्त में सत्संग की महिमा का बखान करते हुए लिखते हैं—

"करत रहै सत्संग संग सब त्यागि जगत को
नहिं जानत को करत प्रसंसा कूर हंसत को देह अनि-
त्यहि मानि प्यास अरू भूष भुलाने
स्वर्ग हू औ उपवर्ग मोद कछु मन नहि आवै यह
भांति जो भाग न होइ मन तव विराग होवै
पचल सब जारत संकट सोक कह ज्ञान पात्र तव होत भल।।[२]

ज्ञान-खण्ड का मुख्य विषय आत्मा शरीर सम्बन्धोल्लेख, ब्रह्म-स्वरूप, सृष्टि और प्रकृति स्वरूप, समाधि वर्णन और ईश्वर प्राप्ति के साधनों का विशद् वर्णन है। आत्माशरीर सम्बन्धी विचार वैराग्य खण्ड में व्यक्त विचारों से लगभग पूर्णतः मिलते हैं। ज्ञान खण्ड में आत्मा-शरीर का सम्बन्धोल्लेख करते हुए महाराज लिखते हैं"...आत्मा या जड तत्वन ते भिन्न है जो शरीर होतो तो शरीर ही के मरे मरि जाइ।"[३] देह मिथ्या एवं क्षण-भंगुर है, वह अस्थिर है। देह को अमर मानना मिथ्या है। वह कर्मों के फल का मूल तो है किन्तु उसका नाश अवश्यंभावी है। इस सम्बन्ध में महाराज ने एक स्थल पर लिखा है—

"..और कर्म जे है ते देहई के लिए है जिन ते सुष दुष हौइ है कर्मन की मूल देह है सो देह ई जो मृषा है तो सुष दुष काको होइ सो दुष सुष सब मिथ्या है।"[४]

उनके अनुसार अज्ञान के कारण मानव, आत्मा और शरीर को एक मान लेता है किन्तु अज्ञान के दूर होते ही सत्यासत्य का उद्घाटन होता है और वह जान लेता है कि आत्मा अमर और शरीर क्षणभंगुर एवं नाशवान है। इस सम्बन्ध में महाराज लिखते हैं—

---

१. शांत शतक, बिश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्रा २४
२. वही, पत्र-२२
३. वही, पत्र-२७
४. वही, पत्र-२६
५. वही, पत्र-३१
३. वही, पत्र-२७
७. वही, पत्र-३५
८. वहीं, पत्र-३०

---

१. शांतशतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीव, पत्र ३६
२. वही, पत्र-३५
३. वही, पत्र—४६
४. वही, पत्र ४४

"...सत्तचित ग्रानंद है ग्ररु विज्वर है वहै रोग रहित है ग्रौ वृद्ध नहीं होइ है कही ग्रौ मरै नहीं है ग्रौ ग्रजर है कहे उत्पत्ति नहीं होइ है काहे ते की ग्रतुत को अंश है...।"[1]

जिस ग्रज्ञान से मानव भ्रमवश ग्रात्मा शरीर को एक समझ लेता है उस ग्रज्ञान का नाश भगवद्भक्ति से सम्भव है। ग्रात्मा परमात्मा के साक्षात्कार एवं मोक्ष प्राप्ति का साधन भी भगवद्भक्ति ही है—

"...भक्ति महारानी की कृपा ते मोक्ष ह्वै वो कह्यो ताते ग्रौ उपाय नहीं है।"[2]

ब्रह्म की सर्वव्यापकता एवं साकारता का प्रतिपादन करते हुए महाराज लिखते हैं—

"पूरन ह्वै रहो जैसे ग्राकास ग्रहै सब ठौर छुवै कछु नाही,
है सत-ग्रौ चित ग्रानंद या तजि नाम ग्रौ रूप तकै चहुधाही
फेरि विचार करै मन में है वहै सब ठौर की ग्रौरऊ नाही,
नाहक टूटत है सिगरे वह ब्रह्म सनातन तेही माही।"[3]

\+ + +

"राम मेरे ग्रागे राम ही मेरे पीछे ग्रहै
राम मेरे दाहिने ग्रौ राम मेरे वाम है,
जहाँ जहाँ देषौ तहा राम ही कौ देषौ ग्ररु
जौन जौन सुनौ गुनौ राम ही के नाम है,
छुवौं तौन राम ही है देह मेरी राम ही है
मन बुद्धि चित्त ग्रहंकार मेरो राम है,
चिदाचित रूप राम ही तो रमि रहे
गुनि विश्व पावै संत पर विश्राम है।"[4]

उद्धृत पदों में व्यक्त विचारों से स्पष्ट है कि महाराज राम को ही ग्रजर, ग्रमर, ग्रविनाशी, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी एवं सर्वगुणसंपन्न परब्रह्म मानते हैं। इस प्रकार के विचार सम्पूर्ण रचना में व्यक्त किए गये हैं। कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

रघुनन्दन ही पर ब्रह्म है।"[1]

\+ + +

"चित ग्रौ ग्रचित जाके शरीर है ग्रौ जाकी नष की जोति ब्रह्म सनातन है सो सिंगार सरूप है श्री रघुनंदन को ग्रौ ताके शरीर में ग्रकथ सुषमा भरी रहै है वह नहीं घटै है ते जे श्री रघुनंदन हैं।"[2]

श्री ब्रह्म को श्रुति में ग्रनाम ग्रव्यक्त कहा गया है।[3] किन्तु ब्रह्म सगुण साकार है। यदि वह निराकार होता तो संसार किस ग्राधार पर खड़ा होता—

"...ग्रौ जो ईश्वर को निराकार मानौ हौ तो जगत को ग्राधार कैसे होत...।"[4]

किन्तु ग्रज्ञान के कारण मानव ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा को भिन्न-भिन्न मान लेता है। ज्ञान दृष्टि से ग्रज्ञान का नाश होता है। ज्ञान की प्राप्ति केवल गुरु-कृपा से ही सम्भव है। गुरु रूपी वैद्य द्वारा दिए गए ज्ञान चक्षुग्रों से ही ब्रह्म स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होता है—

"...वैद्य रूप गुरुग्रों सौं उनकी उपदेश रूप अंजन सो ग्रज्ञान रूप तिमिर को नाश करि ग्रापने ज्ञान रूप नैन षोलौ तव ब्रह्म रूप देषो।"[5]

'भक्ति खण्ड' में भक्ति के भेदोपभेद का सविस्तार वर्णन है। एक स्थल द्रष्टव्य है जिसमें भक्ति के इक्यासी भेद बताये गये हैं—

"...श्रवन १ कीर्तन २ स्मरण ३ पादसेवा ४ ग्रर्चना ५ वंदन ६ दास्य ७ सष्य ८ ग्रात्मा ग्रर्पन ९ ई जो नौधा भक्ति है ते दुइ भांति की है सगुना ग्ररु निर्गुना सो सगुना भक्ति निर्गुना भक्ति के दर्पन है सगुना ते निर्गुना जानी जाइ सो जो सगुना है तामे सातुकी राजसी तामसी एक एक भेद जो तीनि तीनि भेद भए तौ सताइस भेद भए ग्ररु सत्ताइसहु में एक एक में

---

१. शाँतशतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्र ४४
२. वही, पत्र ३६
३. वही, पत्र ४९
४. वही, पत्र ५४

---

१. शाँतशातक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्र ३८
२. वही, पत्र ४१
३. वही, पत्र ३९
४. वही, पत्र ३३
५. वही, पत्र ३३

तीनि तीनि भए उत्तम मध्यम निकिष्ट तौ इक्यासी भेद भए ।"[१]

सगुण भक्ति के छः अंकुरों—धनतरला, व्यूठविकल्पा, विषेसंगरा, नेमाछमा, तरंगरंगिणी और उत्साहमयी—को उल्लेख है ।[२] पुनः इन छः अंकरों के लक्षण सहित भेदोपभेदों का सविस्तार वर्णन है । इस खण्ड के अन्त में महाराज ने अपने आराध्यदेव श्रीराम का महत्त्व प्रतिपादित किया है । वे लिखते हैं—

"· औ श्री रामचन्द्र जे हैं तेई तात हैं औ तेई मात हैं तात कहै पिता है औ रामै मात कहै माता हैं औ रामै भ्रात कहै भाई हैं औ रामै त्राता कहै रक्षक हैं औ रामै-पति है कहै स्वामी है औ सब जे जगत के नाते है ते श्री रघुनन्दनै को मानै है ।"[३]

पुनः संसारी प्राणी को सदैव रघुनन्दन का स्मरण करने में लीन रहने की अनुमति दी गई है—

"ध्यान में जे रघुनन्दन संग में भाव अनेक तहाँ जे जे होते धावै हसै नाचै रोवै इ तँहूते धावै हंसै नचै मोदित रोवै भाव भये ये जो सिद्धिहि ये मै तौ काल अनादि की संश्रत षोवै भूलत है तन भाव तिन्हें विश्वनाथ निरौ दिन रामहि जोवै ।[४]

ग्रन्थ के अन्त में 'शान्तशतक' की रचना का उद्देश्य और उसके पठन-पाठन से प्राप्त फल की ओर इंगित किया है—

"वहु वेदांतन सार विविधि संतन मत लीनो
गुप्त मतन प्रगटन हित सांत सतक मय कीनो
एकहु कवितै करि अभ्यस यहि रीति जो करि है
यहा भव पारावार आसु गोपद सम तरि है
एही पाठौ करि है जो पुरुष अरथ समुझि चित में धरहि
सो कछु दिन में अज्ञान तजि विरति ज्ञान भक्तिहु लहिहि ।"[५]

---

१. शाँतशतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्र ५९
२. वही, पत्र ६१
३. वही, पत्र ७०-७१
४. वही, पत्र ७५
५. वही, पत्र ८७

संक्षेप में 'शान्त शतक' का वर्ण्यविषय संसार की असारता, ब्रह्म स्वरूप, जीव-ब्रह्म सम्बन्ध, ईश्वर प्राप्ति के साधन, भक्ति के भेदोपभेद, नाम-महत्त्व तथा गुरु-महिमा है ।

'शांत शतक' की भाषा मुख्य रूप से ब्रजभाषा है । इस रचना का गद्य भाग महाराज की अन्य कृतियों की भाषा के समान स्थानीय बघेलखण्डी, खड़ी बोली और उर्दू-फारसी से प्रभावित है । उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग प्रायः नगण्य है । कहीं-कहीं ही शान, खाक, मजबूत जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है । किन्तु बघेलखण्डी प्रभाव प्रायः सर्वत्र दृष्टिगत होता है । निम्नलिखित कुछ भाषा सम्बन्धी उद्धरण प्रस्तुत हैं जिनसे हमारे उक्त मत की पुष्टि होती है—

"···ताते तेरे सनबंध सब श्री रघुनन्दन ही सो नित्य है यह व्यंजित भयो जा सरीर ते सब को आनंद मान्यो अरु फुलेलन ते पोषि राष्यो सोई अंत में आगी में जरि भाषा ह्वै मही मिलि गयो ।"[१]

+ + +

"···अब प्रनव कौ अजपा कहै हैं लक्ष्मण जी हैं ते अकार हैं ते जाग्रत को दुष हरि लेइहै औ ऐश्वर्ज करै है अरु मकार ते भरत है ते सुषुप्ति की वासना नासि कै सुष देइ है ।"[२]

+ + +

"···जब वह जागै है औ सिर भेचि ले इहै तव षटचक्र भेदि कै सुधा सरोवर है ब्रह्माण्ड में तामे सुधा पीवै को चलै है तव वाके संग जीवहु चलै है ।"[३]

'शांत शतक' के पद्य भाग की भाषा प्रायः शुद्ध ब्रजभाषा है किन्तु खड़ी बोली का प्रभाव यहाँ भी है । इस रचना के पद्य भाग में कहीं भी उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग नही हुआ है । कुछ उद्धरण अवलोकनीय हैं—

---

१. शांतशतक विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्र १८
२. वही, पत्र ५७
३. वही, पत्र ३६

"आतमा अशोक सत चिदानंद विज्वर है
अजर अमर अज अच्युत को अंश है
मूल्यो निज रूप और स्वामी जौन है अनूप
यह्यो भवकूप अज्ञान नाहि ध्वंश है
होइ सत संग छूटि जाइओ असत संग
वारै सार भूमि ज्ञान बाढत ज्यों वंश है
आठौ भूमिका कौ पाइ आनदहू भूलि जाइ
पाइ रूप जाइ जहों ब्रह्म अवतंश है।"[1]

\+ \+ \+

"होतो जो शरीर तो शरीर मरे मरि जातो
मन होतो मन हीके कीन्हे भोग रहि आत
होतो जो पै चित्त तौ सुधुसि होत काहे छपै
बुद्धि होत भूठे मैन निश्चै करि वहि जात
होतो अहंकार आपने को इश मानि लेत
नाना भांति को या दुष काहे याको जानो जात
ताते देह मन बुद्धि चित अहंकार भिन्न
विश्वनाथ जीव वेश ईस अंश गानो जात।"[2]

\+ \+ \+

"जो सब वेदन शास्नत्र सार जोई
लहि सेस शिवादि रहे लखि
जो भववारिध को परपोतहि
पापन तापन काटन कौ असि
जो कहे मुक्ति मिलै अनयासहि तो
सुचि होत सिया पति रे वसि
सो प्रगटै यह राम सो नाम रहै
किन तें मन तैं फसि।"[3]

'शांत शतक' के गद्य का प्रमुख गुण सरलता का है। पद्य भाग को समझाने के लिए महाराज ने अपनी इस रचना में सरलतम शब्दों का प्रयोग कर उसे पूर्णतः बोधगम्य बनाया है। जहां कहीं उन्हें कठिन अथवा दुरूह शैली का अनुभव हुआ है, उन्होंने उसके भावार्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। गद्य के दो स्थल अवलोकनीय हैं—

"...काहू देवता की उपासना करि ताके लोक को गए फिरि गिरे जग्यादिक करि स्वर्ग कौ गए फिरि गिरि-ताते श्री रघुनन्दनई की उपासना में तिन के लोक कौ जाइ फिरि नहि आवै हैं यह ध्यंजित भयो।"[1]

\+ \+ \+

" जीव नाना लोकन में वागै है माया के अधीन ह्वै के दुष सहित वागै है नाना पदार्थ मानि कै औ जब यह जानि लेइ हैं की अचित रूप ते श्री रघुनन्दन को शरीर हैं सब जगत तब रघुनन्दन बुधि होई हैं...।"[2]

'शांत शतक' में जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न हैं, इस रचना में उपमा, रूपक, अनुप्रासादि कुछ अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ हैं। कहीं भी अलंकारों को लादा नहीं गया अतः स्वाभाविक अलंकारों से भाषा एवं भाव सौंदर्य में वृद्धि हुई है। अलंकृत भाषा के दो उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

"आरुदा विचारु तेरी छन-छन घटि जाति
कोटिन के दीन्हे केरि एकौ छन पावैगो
विषै शोच पोच दिन रैनहि गवावै दुष
पावै सुष हेत सो तौ हाथ नहि आवैगो
बूझै रे अबूझ सूझ अजूह लौ परै नाहि
फेरि पछितैहै जब अंतक बोलावै गो
धरि धरि धीर धरु ध्यान बुद्धि धौरी करि
मोदत बह्वै है जब राम मन भावै गो।"[3]

---

१. शान्त शतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा पत्र, ४५
२. वही, पत्र ४७
३. वही पत्र ८

---

१. शांत शतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्र ४७
२. वही, पत्र ८
३. वही, पत्र १६

"जन्म अनेकन की बहु वासना तै गहि कै सुध औ दुष छायो
त्यागत कर्म न है अजहू कहु कर्म हू ते मिटै कर्म मिटायो
चेत अचेत अरै चित चंचल शोचहि मे दिन पोच गवायो
आनंद कंद सिया रघुचंद बिना जग मे कहु को सुष पायो।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वाभाविक अलंकारों से पुष्ट 'शांत शतक' के पद्य में भी गद्य की सी सरलता, स्पष्टता एवं सुन्दरता विद्यमान है। गहन गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को सरलतम बड़े अनूठे ढंग से समझाया गया है।

'शांत शतक' के पदों में अधिकांश रूप में कवित्त, छप्पय और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं घनाक्षरी छंद का भी प्रयोग हुआ है। आरम्भ में दो दोहे भी हैं।

इस रचना में महाराज विश्वनाथसिंह जू देव ने भारतीय दार्शनिक विचार धारा को जिस अनूठे ढंग से सरल, सुबोध भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया है वह सराहनीय है। गहन गूढ़ आध्यात्मिक तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए महाराज ने अपने इस ग्रन्थ में जिस तर्कसम्मत शैली के द्वारा विरोध निराकरण कर एक मत प्रस्थापित किया है उससे उनके भारतीय दार्शनिक विचारधारा के गहन अध्ययन का परिचय तो मिलता ही है, उनकी वर्णन-कुशलता का भी सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। अन्त में इतना कहना अभीष्ट है कि महाराज विश्वनाथसिंह जू देव की यह रचना भाव एवं भाषा दोनों दृष्टियों से एक उत्कृष्ट कृति है।

—: ० :—

१. शांत शतक, विश्वनाथसिंह, हस्तलिखित, सरस्वती भण्डार, रीवा, पत्र २९

डॉ० हिम्मत सिंह जैन
गवर्नमेंट कालेज,
हिसार

सुदामा-चरित——कमलानन्द
दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ

कवि परिचय—

श्रीकमलानन्द ब्राह्मण परिवार से सम्बन्ध रखते थे। वह श्री बलदेव (मथुरा) के निवासी थे। ग्रन्थ स्वामी का कहना है कि यह कृति उनके परवावा की है जिनको मरे लगभग १००-१५० वर्ष हो गये।[१] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में विद्यमान था।

स्वरूप तथा सामान्य परिचय—

ग्रन्थ की पत्र संख्या १० है। पुस्तक का आकार छ: इंच × साढ़े चार इंच है, प्रत्येक पृष्ठ पर ८ पंक्तियाँ हैं। यह प्रति देशी कागज पर अंकित है। इस ग्रन्थ में न तो लिपिकाल ही लिखा हुआ है और न ही रचना-काल। इसकी हस्तलिखित प्रति पं० मनोहर लाल पाठक गांव श्री बलदेव जि० मथुरा के पास थी।

पुस्तक का आरम्भ "श्री कृष्णाय : नमः" से होता है, कोई मंगलाचरण नहीं लिखा गया। पुस्तक के अन्त में फलश्रुति है।

प्रबन्ध सौष्ठव—

कथा में प्रासंगिक घटनाओं का अभाव है। आधिकारिक घटना का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसमें विस्तृत वर्णनों का पूर्ण अभाव है। कथा सुनियोजित तथा शृंखलाबद्ध है।

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का विवरण सन् १९३५-३७ पृ० ८४ ना० प्र० सभा वाराणसी।

कथा-प्रसंग में एक स्थान पर मौलिक परिवर्तन किया है। अन्य कवियों के सुदामा सर्वप्रथम द्वारिका में द्वारपाल से मिलते हैं तत्पश्चात् वह कृष्ण जी के दर्शन करते हैं। परन्तु कमलानन्द ने इस प्रसंग को अन्य प्रकार से चित्रित किया है। सर्वप्रथम हलधर ने कृष्ण को सूचना दी कि सुदामा आ रहे हैं। इस सूचना को प्राप्त करके कृष्ण जी सुदामा से मिलने के लिए चल पड़े। शेष कथा-प्रसंग पूर्ववर्ती कवियों के सुदामा-चरितों के समान ही है।

चरित्र-अंकन—

सुदामा-चरित की कथा का आकार अधिक विस्तृत नहीं है तथापि कवि ने सुदामा आदि पात्रों का चरित्र भलीभाँति चित्रित करने का सफल प्रयास किया है।

सुदामा—कवि ने अपने ग्रन्थ में सुदामा की एक विशेषता को प्रमुखता दी है। वह आदि से अन्त तक संतोषी ब्राह्मण है। माया, धन वैभव की लोलुपता उसे छू भर न गई। पूर्ववर्ती कवियों ने ब्राह्मण का सन्तोषी रूप तो दिखाया परन्तु उन्होंने उसे इतना धन के प्रति उदासीन चित्रित नहीं किया। जिस समय द्विज-पत्नी ने धन हेतु कृष्ण के पास जाने का प्रस्ताव रखा तो वह क्रोध से लाल-पीला हो गया तथा अपनी स्त्री को प्रताड़ित करने लगा—

अरी नारी दुराचार स्वारथ अपनो करि जानै।
पतिव्रता जो होइ न कवहू दरिद्रहि मानै।[१]

श्रेष्ठ ब्राह्मण एक बार माया के चंगुल में अवश्य फंसे। जिस समय श्री कृष्ण जी ने बिना कुछ धन दिए उन्हें विदा किया, उस समय वह निराश हो गए। यहाँ

१. सुदामा-चरित सं० २

कवि ने मानव मन की स्वाभाविक दुर्बलता का चित्रण किया है। परन्तु दूसरे ही क्षण सुदामा जी सम्भल गए तथा अपनी चारित्रिक विशेषता के अनुसार धन-वैभव को तुच्छ समझने लगे—

तवै सुदामा चलै पैंड दस वाहिर आए,
धरहि कहा लै जाउं षरच हम कछू न पाए।
हरि हैं चतुर सुजान परम गुन सील के आगर,
माया दई न मोहनि कृपा कीन्ही हरि नागर ॥
माया कलह की रासि है धरै त्रिगुण विपरित,
जाके जाय चैन नही ताके यह माया की रीती ॥[१]

साधारण पाठक को वीर कवि के सुदामा तथा इनके सुदामा का स्वभाव समान दृष्टिगोचर होता है परन्तु कवि के सुदामा तथा इनके सुदामा के स्वभाव में एक बड़ा अन्तर है। वीर कवि के सुदामा आरम्भ में धन वैभव के बहुत इच्छुक थे परन्तु बाद में धन को तुच्छ समझने लगे परन्तु कमलानन्द के सुदामा आरम्भ से ही धन को तुच्छ वस्तु समझते थे।

गृह लौटने पर उसने कृष्ण प्रदत्त धन वैभव देखा। मानव स्वभाव के अनुसार वह उसे देख कर अति प्रसन्न हुए। परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी आत्मा जाग उठी तथा उसने धन वैभव से मन हटाकर प्रभुचरण में मन लगा लिया—

मगन भयो तव देषि के अन्न वसन वहु भांति।
वन गये सजन सारथी रथ पर जटित नगन की पाँति ॥
मन गयो माया ज्ञान छुटी कृष्ण चरण लाग्यो।
अन्तर उपज्यो ज्ञान कछुक सोवत सो जाग्यो ॥[२]

कवि को सुदामा चरित्र-अंकन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। वह मानव मन की दुर्बलता का दिग्दर्शन भी करवा देता है तथा अपने पात्र की विशेषता को भी नहीं खोता। यदि वह सुदामा की चारित्रिक दुर्बलता प्रदर्शित न करता तो उसका चरित्र मानवेत्तर बन जाता। इनके सुदामा का स्वभाव पूर्ववर्ती कवियों के सुदामा से किंचित मात्र भी नहीं मिलता।

---

१. सुदामा चरित पत्र सं० २०-२१
२. वही सं० २८-२९

सुदामा-पत्नी—

अन्य कवियों की भाँति कमलानन्द ने भी द्विज-पत्नी को धन-पिपासु चित्रित किया है। इसके स्वभाव में एक अन्तर अवश्य है। जिस प्रकार इनके सुदामा अन्य कवियों के सुदामा से अधिक सन्तोषी हैं; उसी प्रकार इनकी द्विज पत्नी अन्य कवियों की द्विज-पत्नी से अधिक धन की इच्छुक है। वह सुदामा को कृष्ण के पास केवल धन-प्राप्ति की इच्छा से भेजती है, कोई भक्ति भावना से नहीं। वह धन को जीवन के लिए आवश्यक वस्तु समझती है।

भक्ति उसे छू भर भी न गई—

दीन के बन्धु हरि।
निसि वासर याहि गायो, तुम जन्म गवाँयो।
मन मलीन तन छीन, सदा दारिद्र रह छायो ॥
दुष की रासि जु भंजते, बीति गये पन चार।
सुष कवहू पायो न पिया, कहत सुदामा नारि ॥[१]

वह धन को धर्म का भी मूल समझती है। अतः धन-प्राप्ति उसके लिए जीवन का परम लक्ष्य है।

धन विन धरम न होय, वेद बिन यज्ञ आचार।
स्वजन कुटुम्ब परिवार बिना, धन गति व्यवहार ॥
धन विन धीरज न रहे, धीरज विन सत जाय।
ताते कंथ पधारौ हरि पै, कहा रहे सिरवाव ॥[२]

भाषा-शैली—

सुदामा चरित में सर्वत्र साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कुछ स्थानों पर भुंजते, लग, रीतौ, पांवड़े आदि देशज शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इनकी भाषा विदेशी शब्दावली से मुक्त है।

छन्द-विधान—

सारे ग्रन्थ में रोला नामक एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार नन्ददास के भ्रमर गीत में "सुनौ ब्रज नागरी" की टेक पदों के अन्त में लगाई गई है

---

१. सुदामा-चरित सं० १
२. वही सं० ५

वैसी ही टेक श्री कमलानन्द ने "दीन के बन्धु हरि" पदों के ग्रादि में लगाई है। यदि यह टेक पदों के ग्रन्त में लगाई जाती तो ग्रधिक सुन्दर बन पड़ती।

रोला छन्द में २४ मात्रायें होती हैं परन्तु कुछ पंक्तियों की मात्रा संख्या न्यूनाधिक है। सामान्यतः पद की पहली व तीसरी पंक्ति की ग्रपेक्षा दूसरी व चौथी पंक्ति की मात्रा संख्या ग्रधिक है। उदाहरण स्वरूप निम्नपंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

देषि त्रिया तब कहै भवन ग्रापने पधारौ : २४ मात्रायें
कहा सूषै से वदन सोच मन की जु विचारौ : २५ मात्रायें
भीतर भवन पधारिये करहु सकल सुषरासि : २४ मात्रायें
जाय जु देषे विभौ ग्रापनो पांय पलौटे दास : २७ मात्रायें

ग्रलंकार-योजना—

ग्रन्य भक्त कवियों की भाँति कमलानन्द का भी ग्रलंकरण की ग्रोर किंचित मात्र भी ध्यान नहीं है। इनके काव्य में कम ग्रलंकारों का प्रयोग मिलता है। सुदामा चरित में निम्नलिखित गिने-चुने ग्रलंकारों का प्रयोग किया गया—

ग्रनुप्रास—मन मलीन तन छीन सदा दरिद्र रह छायो।[1]

वीप्सा—हा २ कृष्ण पठावत रीतो कहा वनि ग्राइ तोय।[2]

पुनरूक्तिप्रकाश—जिन के हरि सो मीत, कहा घर २ कन मांगै ॥[3]

रूपक—कमलानन्द विमल जस गावहि चरन कमल की छाँहि ॥[4]

विनोक्ति—धन विन धरम न होय, वेद विन यज्ञ ग्राचार।
स्वजन कुटुम्ब परिवार विना, धन गति व्यवहार ॥
धन विन धीरज ना रहे, धीरज विन सत जाय।
ताते कंथ पधारो हरि, पै कहां रहे सिरनाय।[5]

---

१. सुदामा चरित सं० १
२. वही सं० २०
३. वही सं० ३
४. वही सं० ३९
५. वही सं० ५

—:०:—

परिशोध अंक १४

क्रम

परिशोध अंक १५